प्रकाशक

गिरधरदास द्वारकादास

हिंदी-साहित्य-कुटीर,

बनारस सिटी

मुद्रक

विजयबहादुरसिंह बी० ए०

महाशक्ति-प्रेस

बुलानाला, बनारस सिटी

अंतर्दर्शन

रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले शब्द को काव्य कहते हैं ❀। यहाँ पर 'रमणीय' कहने का अभिप्राय 'लोकोत्तर आनंद उत्पन्न करनेवाले ज्ञान के अनुभव' से है। आनंद या आह्लाद को चमत्कार का पर्यायवाची समझना चाहिए। यह आनंद लोक की प्रकृति के अनुरूप नहीं होता, इसीसे इसे लोकोत्तर कहा गया है। यदि कोई किसीसे आकर कहे कि 'तुम्हारे पुत्र हुआ' अथवा 'तुम्हें एक लाख रुपये मिले हैं', तो यह आनंद केवल उसी व्यक्ति के लिये होगा। पर काव्य में ऐसी बात नहीं है। यहाँ हम दूसरों के दुःख से दुखी और सुख से सुखी होते हैं। इसीसे इसके लिये 'लोकोत्तर' शब्द लिखा गया है।

काव्य-लक्षण

काव्य को सब प्रकार से निर्दोष होना चाहिए; उसमें गुणों की योजना हो और यथावश्यक अलंकारों का भी प्रयोग किया जाय †। किसी के शरीर में दोष हो तो उससे अरुचि उत्पन्न होती है, इसी प्रकार काव्य में दोषों के आ जाने से वह यथावश्यक आनंद नहीं उत्पन्न कर सकता। किसी गुणी मनुष्य के प्रति जिस प्रकार श्रद्धा का भाव जागरित होता है, उसी प्रकार गुणों के रहने से काव्य में भी अभिरुचि होती है। जिस प्रकार

❀ रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्——रस-गंगाधर।

† तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि——काव्य-प्रकाश।

गहनों के कारण सुंदर व्यक्ति की सुंदरता और भली जान पड़ने लगती है, उसी प्रकार अलंकार के प्रयोग से काव्य में सौंदर्य बढ़ जाता है। पर यह नहीं कहा जा सकता कि अलंकार के बिना काव्य हो ही नहीं सकता। कहीं-कहीं बिना अलंकार के भी काव्य हो सकता है।

काव्य करनेवाले के लिये शक्ति, निपुणता और अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है ❀। **शक्ति** उस प्रतिभा को कहते हैं जिसके द्वारा काव्य करनेवाला नई-नई उद्भावनाएँ किया करता है। **निपुणता** लोक, शास्त्र और काव्य के अवलोकन से आती है। **अभ्यास** करने के लिये किसी सहृदय काव्य-मर्मज्ञ की शिक्षा का सहारा लेना पड़ता है। जिनमें ये तीनों गुण परिपूर्ण होते हैं, वे बड़े अच्छे कवि निकलते हैं। यहाँ पर अभ्यास को भी कवि के लिये आवश्यक लिखने से इस सिद्धांत का विरोध नहीं होता कि कवि बनाए नहीं जा सकते, उनमें कवित्व-गुण सहज होता है। इन तीन गुणों में 'शक्ति' वही सहज गुण है।

काव्य के भेद

लेखन-शैली, स्वरूप और रमणीयता के विचार से काव्य के भेद तीन ढंग से किए जा सकते हैं। लेखन-शैली के अनुसार विचार करें तो काव्य-रचना दो प्रकार के वाक्यों द्वारा होती है—**गद्य** और **पद्य**। गद्य और पद्य के मिश्रण से जो रचना होती है उसे **चंपू** या मिश्र काव्य कहते हैं। गद्य-काव्य के अंतर्गत उपन्यास, आख्यायिका, निबंध आदि सभी आ जाते हैं। यदि स्वरूप के अनुसार विचार करें तो काव्य के दो भेद किए जा सकते हैं; **श्रव्यकाव्य** और **दृश्यकाव्य**। जिस काव्य का आनंद केवल कानों से सुनकर या पढ़कर मिले वह श्रव्यकाव्य और जिसका वास्तविक चमत्कार रंग-मंच पर खेलकर दिखलाए जाने से प्रकट हो वह दृश्यकाव्य है। श्रव्यकाव्य के भी दो

❀ शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥—काव्य-प्रकाश

प्रकार होते हैं; **प्रबंधकाव्य** और **मुक्तक** । प्रबंधकाव्य की रचना प्रबंध (कथा) के अधीन होती है, उसका प्रत्येक छंद एक-दूसरे से संबंधित होता है । पर मुक्तक काव्य का प्रत्येक छंद स्वतंत्र होता है और अपने विषय का ज्ञान कराने अथवा रस या भाव का संचार करने में स्वतः समर्थ होता है ❀ । प्रबंधकाव्य के भी दो भेद होते हैं; **महाकाव्य** और **खंड-काव्य** । महाकाव्य में कोई विस्तृत जीवन-वृत्त लिया जाता है और खंड-काव्य में किसी छोटी घटना का वर्णन होता है; पर यह स्वतः संपूर्ण होता है, महाकाव्य के किसी अंश को खंडकाव्य नहीं कह सकते ।

रमणीयता के अनुसार विचार करें तो काव्य के तीन भेद होते हैं । शब्द के सीधे-सादे अर्थ को **वाच्यार्थ** कहते हैं । इसके अतिरिक्त कभी-कभी शब्द के सीधे-सादे अर्थ के अतिरिक्त भिन्न अर्थ भी निकलता है । उसको **व्यंग्यार्थ** कहते हैं । वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के न्यूनाधिक्य से ही काव्य की ये तीन श्रेणियाँ की गई हैं—(१) उत्तम, (२) मध्यम और (३) अधम (अवर) । जहाँ व्यंग्यार्थ की ही प्रधानता हो, उसे **उत्तम काव्य** कहेंगे । इसीका नाम **ध्वनि** है । जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों समान कोटि के हों अथवा व्यंग्यार्थ से वाच्यार्थ अच्छा हो, वहाँ **गुणीभूत व्यंग्य** होगा । यह मध्यम श्रेणी का काव्य है । जहाँ केवल वाच्यार्थ की ही प्रधानता हो, वह **अवर काव्य** (चित्र या अलंकार) कहलाता है । यह तीसरी श्रेणी का काव्य है ।

उत्तम काव्य (ध्वनि)

सत्य कहहि दसकंठ सब, मोहि न सुनि कछु कोह ।
कोउ न हमरे कटक अस, तो सन लरत जो सोह ॥—तुलसी

❀ मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्—अग्निपुराण ।

दोहे में अंगद के वचनों का भाव यह है कि तुमने जो कुछ कहा है वह सत्य नहीं है। मुझे तुमपर क्रोध आ रहा है। (जब हनुमान को ही तुम सबसे बड़ा वीर समझते हो तो) हमारी सेना में सभी तुमसे अधिक बली हैं। यहाँ व्यंग्यार्थ (रावण की तुच्छता) वाच्यार्थ से बढ़कर है।

मध्यम काव्य (गुणीभूत व्यंग्य)

मानौ सिर धरि लंकपति, श्रीभृगुपति की बात।
तुम करिहौ तो करहिंगे, वेऊ द्विज उतपात॥ —दास

राक्षसों के उपद्रव से क्रुद्ध होकर परशुराम ने रावण के यहाँ संदेश भेजा है। परशुराम का दूत रावण से कह रहा है कि लंकेश! भृगुपति की बात मानकर उत्पात मचाना छोड़ दो। यदि तुम ब्राह्मणों को भी दुःख दोगे तो वे भी ब्राह्मण हैं। 'उत्पात करने पर राक्षसों के कुल का संहार कर देंगे' यह व्यंग्य हुआ। पर यह व्यंग्य इस वाच्यार्थ से बढ़कर नहीं है कि तुम ब्राह्मण हो तो वे भी ब्राह्मण हैं। इसलिये यह 'गुणीभूत व्यंग्य' है।

अवर काव्य (अलंकार)

जप-माला छापा-तिलक, सरै[1] न एकौ काम।
मन काँचै नाँचै वृथा, साँचै राँचै[2] राम॥ —विहारी

यहाँ 'काँचै' आदि शब्दों में वर्ण-समता (अनुप्रासालंकार) के अतिरिक्त और कोई विशेष चमत्कार या व्यंग्य नहीं है। इसलिये यह 'अवर-काव्य' है।

१—पूरा नहीं होता। २—प्रसन्न होते हैं।
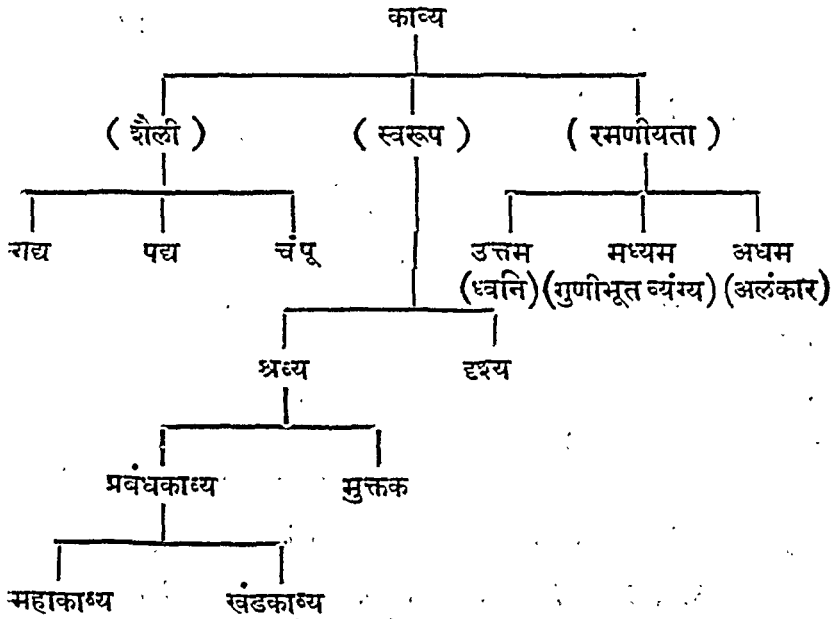
व्यंग्य का स्वरूप समझने के लिये शब्द-शक्ति का ज्ञान होना चाहिए। शब्द तीन प्रकार के होते हैं—**वाचक, लक्षक** और **व्यंजक**।

शब्द-शक्ति

इनसे तीन प्रकार के अर्थ निकलते हैं, जिन्हें क्रमशः वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ कहते हैं। इन अर्थों का ज्ञान करानेवाली तीन शक्तियाँ होती हैं, जिनका नाम क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यंजना है।

वाचक शब्द चार प्रकार के होते हैं—(१) जाति-वाचक, (२) गुण-वाचक, (३) द्रव्य-वाचक (यदृच्छा) और (४) क्रिया-वाचक। जाति-वाचक शब्द से पदार्थ का सामान्य ज्ञान होता है; जैसे—मनुष्य, गौ, वृक्ष आदि। गुण-वाचक शब्द से किसी जाति की विशेषता ज्ञात होती है; जैसे—साँवला, धवरी, सूखा आदि। द्रव्य-वाचक शब्द से केवल एक व्यक्ति का बोध होता है; जैसे—रामचंद्र, कामधेनु, कल्पतरु आदि।

क्रिया-वाचक शब्द से वस्तु के साध्य धर्म ॐ का ज्ञान होता है; जैसे—चलना, दौड़ना, उगना आदि।

अभिधा—पूर्वसंचित ज्ञान अथवा व्याकरण, शब्द-कोशादि के आधार पर (ऊपर कहे हुए वाचक) शब्द के सुनते ही जिस अर्थ का सबसे पहले बोध होता है, उसे **वाच्यार्थ** कहते हैं। इसी अर्थ को बतलानेवाली शक्ति का नाम **अभिधा** है।

इसी शक्ति के द्वारा काव्य में प्रयुक्त अनेकार्थवाची शब्दों के एक अर्थ का निर्णय होता है। इस शक्ति से अर्थ निर्णय करने के बारह प्रकार बतलाए गए हैं; संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थबल, प्रकरण, सामर्थ्य, औचित्य, देशबल, कालबल, अन्यसन्निधि और लिंग। स्वर और अभिनय से भी अर्थ का निर्णय होता है। पर स्वर का काम वेदों में पड़ता है और अभिनय का नाटकादि के खेल में।

मोर-पच्छ को मुकुट सिर, उर तुलसीदल-माल।
जमुना-तीर कदंब-ढिग, मैं देख्यौं नँदलाल॥ —दास

इस दोहे में मोर-पक्ष, दल,[1] माल,[2] तीर,[3] कदंब,[4] आदि शब्द एक से अधिक अर्थ प्रकट करनेवाले हैं, पर अभिधा से यहाँ इनका केवल एक अर्थ लगता है। जैसे—'मोर-पक्ष' शब्द का अर्थ मोर-पंख और मेरा पक्ष (ओर, तरफ) दोनों होता है, पर 'मेरा पक्ष' कोई पदार्थ तो होता

१—पत्र और सेना। २—माला और समूह। ३—तट और बाण। ४—वृक्ष-विशेष और समूह।

ॐ एक क्रिया को सिद्ध करने के लिये कई छोटे-मोटे कार्य आगे-पीछे करने पड़ते हैं। इनके पूरे उतरने पर ही क्रिया की सिद्धि होती है। ये कार्य देखने में अनेक होने पर भी एक ही प्रधान क्रिया के साधक होते हैं। अतएव इन सबसे सिद्ध होनेवाली क्रिया को 'वस्तु का साध्य धर्म' कहते हैं। जैसे—'पकाना' क्रिया के लिये आग जलाना, बेलना, सेंकना आदि कई कार्य करने पड़ते हैं। यहाँ 'पकाना' साध्य धर्म है।

नहीं जिसका मुकुट बन सके, इसलिये 'मोर-पंख' ही अर्थ उचित जँचता है। 'मुकुट' शब्द के पास में रहने (अन्यसन्निधि), अर्थ के ठीक घटने (औचित्य), श्रीकृष्ण का पहनावा मोरचंद्रिका होने (संयोग) आदि से एक अर्थ का निर्णय हुआ है। इसी प्रकार और भी समझ लेना चाहिए।

लक्षणा—जब शब्द के मुख्यार्थ अर्थात् अभिधा द्वारा प्राप्त वाच्यार्थ को ग्रहण करने में किसी प्रकार की अड़चन आ पड़ती है और इसीलिये उस (मुख्यार्थ) से संबंधित कोई दूसरा अर्थ ग्रहण किया जाता है, तो उस अर्थ को **लक्ष्यार्थ** कहते हैं। इसी अर्थ को बतलानेवाली शब्द-शक्ति का नाम **लक्षणा** है। मुख्यार्थ को छोड़कर अन्यार्थ के ग्रहण करने का कारण कोई चली आती हुई रूढ़ि (परंपरा) होती है अथवा कोई विशेष प्रयोजन होता है। इसलिये लक्षणा के दो भेद होते हैं—रूढ़ि लक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा। जहाँ प्रचलित काव्य-परंपरा के कारण शब्द के मुख्यार्थ में रुकावट पड़ती है वहाँ **रूढ़ि-लक्षणा** होती है; जैसे—

फली सकल मनकामना, लूट्यौ अगनित चैन।
आजु अँचै हरि-रूप सखि, भए प्रफुल्लित नैन॥ —दास

मन-कामना कोई वृक्ष नहीं है कि फले, चैन (आनंद) कोई धन नहीं है कि लूटा जा सके, हरि-रूप (श्रीकृष्ण का सौंदर्य) कोई पेय पदार्थ नहीं है कि आचमन किया जाय और नेत्र कोई पुष्प नहीं है कि फूले। किंतु इस प्रकार कहने की रूढ़ि है। अतः यहाँ पर 'फली' का अर्थ 'पूर्ण हुई', 'लूट्यौ' का अर्थ 'पाया', 'अँचै' का अर्थ 'देखकर' और 'प्रफुल्लित भए' का अर्थ 'सुखी हुए' होगा।

जहाँ किसी विशेष प्रयोजन के कारण शब्द के मुख्यार्थ को ग्रहण करने में रुकावट पड़े वहाँ **प्रयोजनवती लक्षणा** होती है। इसके दो भेद किए गए हैं; शुद्धा और गौणी। जहाँ सादृश्य अर्थात् समान गुण या धर्म लक्ष्यार्थ के बोध कराने का कारण हो वहाँ **गौणी** होती है और जहाँ

सादृश्य-संबंध के अतिरिक्त कोई अन्य संबंध उसका कारण हो वहाँ **शुद्धा** होती है । गौणी के भी दो भेद होते हैं; सारोपा और साध्यवसाना। शुद्धा के चार भेद होते हैं; उपादान, लक्षण, सारोपा और साध्यवसाना । जहाँ प्रयोजनीय अर्थ की सिद्धि के लिये मुख्यार्थ को न छोड़ते हुए अन्यार्थ को ग्रहण कर लिया जाय वहाँ **उपादान-लक्षणा** होती है और जहाँ मुख्यार्थ को छोड़कर अन्यार्थ ग्रहण किया जाता है वहाँ **लक्षण-लक्षणा** होती है । जहाँ एक वस्तु (आरोप-विषय) पर दूसरी वस्तु (आरोप्यमाण) का आरोप किया जाय और वे दोनों शब्द द्वारा कहे जायँ वहाँ **सारोपा** होती है । जहाँ केवल आरोप्यमाण ही रहता है, आरोप-विषय नहीं रहता, वहाँ **साध्यवसाना** होती है ।
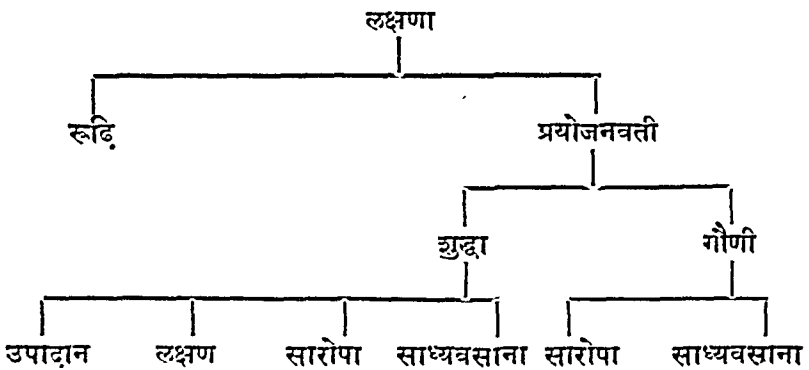
(१) उपादान-लक्षणा—

जमुना-जल कौं जात हीं[1], डगरीं[2] गगरी-जाल ।
बजी बाँसुरी कान्ह की, गिरीं सकल तेहि काल ॥ —दास

'गगरी' स्वयं नहीं चलती, क्योंकि निर्जीव है । अतः 'गगरी' का

१—थीं । २—चलीं ।

अर्थ है 'गगरी लिए हुए कोई व्यक्ति' (गोपी)। 'गगरी' ने अपना मुख्यार्थ छोड़ा नहीं, क्योंकि उसीको लेनेवाले व्यक्ति का आक्षेप किया गया है। यहाँ सादृश्य से अतिरिक्त संबंध है, इससे शुद्धा है। प्रयोजन है गोपियों की अचैतन्यता प्रकट करना।

(२) लक्षण-लक्षणा—

वर्णाश्रम निज-निज धरम, निरत वेद-पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भव[1]-रोग न सोग॥ —तुलसी

'वेद' में कोई 'पथ' (मार्ग) नहीं होता, इसलिये 'पथ' का अर्थ 'रीति' लेना पड़ेगा। 'पथ' शब्द ने अपना अर्थ एकदम छोड़ दिया है, इससे लक्षण-लक्षणा है। सादृश्य-संबंध न होने से शुद्धा है। ध्येय तक पहुँचना ही प्रयोजन है।

(३) सारोपा शुद्धा—

कोऊ कोरिक[2] संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो संपति जदुपति सदा, विपति-बिदारनहार॥ —विहारी

यदुपति (श्रीकृष्ण) पर 'संपत्ति' का आरोप है। 'संपत्ति' का अर्थ तो 'धन' होता है, पर श्रीकृष्ण धन नहीं हैं; इसलिये इसका अर्थ 'सुखदायी' आदि करना होगा। सादृश्य-संबंध न होने से यह शुद्धा है। भक्ति सूचित करना प्रयोजन है।

(४) साध्यवसाना शुद्धा—

बैरिनि कहा बिछावती, फिरि-फिरि सेज कृसान।
सुन्यो न मेरे प्रानधन, चहत आज कहुँ जान॥ —दास

१—सांसारिक। २—करोड़।

'वैरिनि' शब्द सखी के लिये और 'कृसान' (अग्नि) शब्द फूलों के लिये आया है। केवल आरोप्यमाण रहने से साध्यवसाना है। सादृश्य-संबंध नहीं है इससे शुद्धा है। विरह की तीव्रता प्रकट करना ही प्रयोजन है।

(५) गौणी सारोपा—

कादर[1] तौ जीवत मरत, दिन मैं बार हजार।
प्रान-पखेरू वीर के, उड़त एक ही बार॥ —वियोगी हरि

'प्राण' पर 'पक्षी' का आरोप है। 'प्राण' पक्षी नहीं हो सकते, इससे मुख्यार्थ का वाध (रुकावट) भी है। लक्ष्यार्थ हुआ 'पक्षी की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान को उड़कर चला जानेवाला'। यहाँ 'उड़ जाना' सादृश्य गुण है, इससे गौणी लक्षणा है। प्राण की अस्थिरता प्रयोजन है।

(६) गौणी साध्यवसाना—

कुंज-कुटी के वीच वलि, कनकलता पर चंद।
चलि अवलोकन कीजिए, आतुर आनँदकंद॥ —लछिराम

'कनकलता' का आरोप नायिका के शरीर पर और 'चंद्र' का उसके मुख पर है। पर उन दोनों का कथन नहीं किया गया है। सादृश्य-संबंध होने से गौणी है और अत्यंत सौंदर्य सूचित करना प्रयोजन है।

व्यंजना—वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के लग चुकने पर भी जो कोई विलक्षण अर्थ वोध होता है, उसे **व्यंग्यार्थ** कहते हैं। इसी अर्थ को वतलानेवाली शक्ति का नाम **व्यंजना** है। व्यंग्य कहीं तो शब्द के आधार पर रहता है अर्थात् शब्दों के पर्यायवाची वहाँ नहीं रखे जा सकते, इसे **शाब्दी व्यंजना** कहते हैं। जहाँ व्यंजना अर्थ पर निर्भर होती है वहाँ

१—कायर, डरपोक।

आर्थी व्यंजना होती है। शाब्दी व्यंजना अभिधामूला और लक्षणामूला दो प्रकार की होती है। जहाँ अनेकार्थी शब्दों के प्रयोग से अभिधा द्वारा एक अर्थ का निर्णय हो जाने पर भी कोई दूसरा विलक्षण अर्थ निकले वहाँ **अभिधामूला** व्यंजना होती है; जैसे—

भयो अपत[1] कै कोप[2]युत, कै बौरो[3] यहि काल।
मालिनि आजु कहै न क्यों, वा रसाल[4] को हाल॥ —दास

यहाँ अभिधा से आम का वर्णन निश्चित हो गया, पर अपत, कोप, बौरो और रसाल शब्द के दोहरे अर्थ हैं। इससे एक दूसरा अर्थ नायक-संबंधी भी निकल रहा है।

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना के उदाहरण ऊपर दिए हुए लक्षणा के सभी उदाहरण हैं। आर्थी व्यंजना वक्ता, बोधव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य-सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल, चेष्टा आदि की विशेषता से होती है; जैसे—

दृग लखिहैं मधु-चंद्रिका[5], सुनिहैं कल-धुनि[6] कान।
रहिहैं मेरे प्रानधन, प्रीतम करौ पयान[7]॥ —दास

नायिका प्रवत्सत्पतिका है। सीधे पढ़ने में तो आज्ञा है, पर काकु (गले की आवाज बदलकर) पढ़ने से निषेध जान पड़ता है।

व्यंग्यार्थ के वाच्यार्थ से न्यूनाधिक होने से गुणीभूत व्यंग्य और ध्वनि होती है। इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। **ध्वनि** के भी दो भेद होते हैं; अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि और विवक्षित-वाच्य-ध्वनि। जहाँ वाच्यार्थ की विवक्षा (उपयोग) न हो वहाँ **अविवक्षित** और जहाँ उसकी विवक्षा हो वहाँ **विवक्षित-वाच्य-ध्वनि** होती है। अविवक्षित के भी दो भेद हैं; अर्थांतर-संक्रमित और अत्यंत-तिरस्कृत। जहाँ अर्थ प्रसंगानुसार वाच्यार्थ

१—पत्रहीन, प्रतिष्ठाहीन। २—कोंपल, क्रोध। ३—मंजरीयुक्त, पागल। ४—आम, रसिक। ५—चैत की चाँदनी। ६—सुंदर बोली (कोयल की)। ७—प्रस्थान

को छोड़कर अर्थांतर (दूसरे अर्थ) में संक्रमण करता (चला जाता) है, वहाँ **अर्थांतर-संक्रमित** और जहाँ वाच्यार्थ का अत्यंत तिरस्कार हो, विधि-वाक्य निषेध में या निषेध विधि में प्रयुक्त हो, वहाँ **अत्यंत-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि** होती है। विवक्षित-वाच्य-ध्वनि के भी दो भेद होते हैं; संलक्ष्यक्रम और असंलक्ष्यक्रम। जहाँ व्यंग्यार्थ तक पहुँचने का क्रम लक्षित हो जाता है वहाँ **संलक्ष्य** और जहाँ लक्षित न हो वहाँ **असंलक्ष्यक्रम-ध्वनि** होती है।
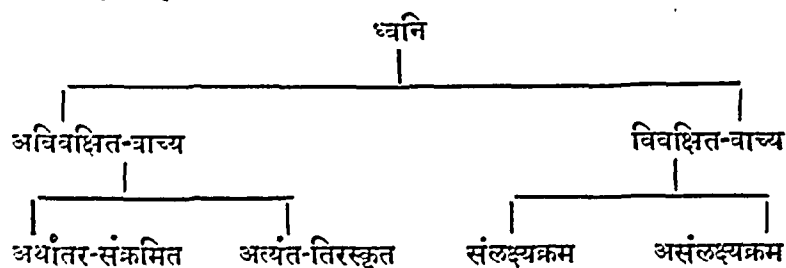
(१) <u>**अर्थांतर-संक्रमित**</u>—

हंस[1]-वंस दसरथ जनक, राम-लखन-से भाइ।
जननी ! तू <u>जननी</u> भई, विधि सन कहा वसाइ[2]॥ —तुलसी

दूसरे 'जननी' शब्द में कैकेयी की कठोरता व्यंग्य है।

(२) <u>**अत्यंत-तिरस्कृत**</u>—

सुनहु राम स्वामी सकल, चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पातकी, अंत-काल गति[3] तोरि॥ —तुलसी

'मैं अब भी पातकी हूँ' का तात्पर्य है कि मैं अब पापी नहीं रहा, मेरे पाप दूर हो गए।

१—सूर्य। २—ब्रह्मा से क्या वश चलता है। ३—शरण।

(३) संलक्ष्य-क्रम—

तनु बिचित्र कायर[1]-वचन, अहि-अहार[2] मन घोर।
'तुलसी' हरि भए पच्छ[3]धर, तातें कह सब मोर ॥—तुलसी

'मोर' के कर्म ठीक नहीं, पर हरि (श्रीकृष्ण) उसका पक्ष धारण करते हैं, इसीसे लोग उसे 'मोर' (मेरा) कहते हैं। इस कथन से भगवान की महिमा व्यंजित की गई है। इसका क्रम लक्षित है।

(४) असंलक्ष्यक्रम—

अच्युत[4]-चरन-तरंगिनी[5], सिव-सिर मालति-माल।
हरि न बनायौ सुरसरी! कीजौ इंदव-भाल[6] ॥ —रहीम

'हे गंगे! मुझे तुम विष्णु मत बनाना, महादेव बनाना, जिससे मैं तुम्हें सिर पर धारण करूँ।' इस कथन से वक्ता का भक्ति-भाव सूचित होता है। इस व्यंग्यार्थ तक पहुँचने का क्रम लक्षित नहीं है, पढ़ते ही भाव तुरत ज्ञात हो जाता है। सब प्रकार के रस और भाव इसी असंलक्ष्यक्रम-ध्वनि के अंतर्गत हैं। प्रत्येक रस के चार अंग होते हैं; स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव। इनमें से विभाव के दो विभाग हैं; आलंबन और उद्दीपन। श्रृंगार-रस के आलंबन नायक और नायिका हैं और उद्दीपन हैं वन, पवन आदि।

काव्य की शोभा करनेवाले धर्मों को **अलंकार** कहते हैं*। 'अलंकार' शब्द का अर्थ है 'गहना'। जिस प्रकार किसी व्यक्ति को गहना पहना

१—डरपोक के से। २—सर्प का भोजन। ३—पंख धारण करना और तरफ़दारी करना। ४—विष्णु। ५—नदी। ६—महादेव।

* 'काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते'—काव्यादर्श।

देने से वह और सुंदर ज्ञात होने लगता है, उसी प्रकार अलंकारों से विभूषित काव्य भी सुंदर ज्ञात होने लगता है। 'अलंकार' वस्तुतः बोलने अथवा लिखने की एक शैली है। बोलचाल में किसी बात को श्रोता या पाठक के मन में भलीभाँति बैठा देने के लिये यह आवश्यकता होती है कि बात कुछ बनाकर कही जाय। इस प्रकार बात के सजाने में जो चमत्कार आ जाता है, उसे रीति-ग्रंथों में 'अलंकार' के नाम से पुकारते हैं।

अलंकार

अलंकार अव्यंग्य होता है, इसीसे इसे 'अवर काव्य' कहते हैं। काव्य की शोभा इनके द्वारा होती तो है, पर ये गहनों की तरह काव्य के अस्थिर धर्म हैं। वीरता आदि की तरह काव्य के अचल धर्मों को गुण कहते हैं, जो तीन प्रकार के होते हैं; माधुर्य, ओज और प्रसाद।

काव्य में 'शब्द' और उसका 'अर्थ' ही मुख्य होता है। इस विचार से अलंकारों के दो विभाग हैं--शब्दालंकार और अर्थालंकार। मोटे रूप में अलंकारों का यही विभाग प्रचलित है। अब तक अलंकारों का वैज्ञानिक विभक्तीकरण नहीं हुआ है, यद्यपि जिस क्रम से अलंकारों का वर्णन होता है उसमें मिलते-जुलते अलंकार पास-पास ही रखे गए हैं। अलंकारों को सुभीते के साथ आठ वर्गों में बाँट सकते हैं--औपम्यमूलक, शृंखला-मूलक, न्यायमूलक, अपह्नवमूलक, कार्य-कारण-सिद्धांतमूलक, विशेषण-वैचित्र्यमूलक और कवि-समयमूलक। जिन अलंकारों में उपमा (समता) का भाव होता है उन्हें **औपम्यमूलक** समझना चाहिए। इसके अंतर्गत उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, स्मरण आदि अलंकार आवेंगे। समता के ज्ञान के प्रकार को विचार में रखकर इसके और भी भेद हो सकते हैं--भेद-प्रधान, अभेद-प्रधान, भेदाभेद-प्रधान, प्रतीति-प्रधान, गम्य-प्रधान और वैचित्र्य-प्रधान। **भेद-प्रधान** वे अलंकार हैं जहाँ दो पदार्थों में भिन्नता रहते हुए भी समता कही जाती है; जैसे--उपमा। **अभेद-प्रधान**, जहाँ दोनों में भिन्नता न रहे; जैसे--रूपक। **भेदाभेद-प्रधान**, जहाँ भेद और

अभेद दोनों हों; जैसे—अनन्वय। **प्रतीति-प्रधान**, जहाँ समता का केवल बोध होता है; जैसे—उत्प्रेक्षा। **गम्य-प्रधान**, जहाँ समता गम्य हो अर्थात् लक्षित हो; जैसे—अन्योक्ति (अप्रस्तुत-प्रशंसा)। **वैचित्र्य-प्रधान**, जहाँ समता वैचित्र्य से युक्त हो; जैसे—श्लेष।

जहाँ दो पदार्थों में विरोध दिखाया जाय वहाँ **विरोधमूलक** वर्ग होगा; जैसे--विरोधाभास, असंगति आदि। जहाँ लड़ी के समान कोई वर्णन हो वहाँ **शृंखलामूलक**; जैसे—एकावली, सार आदि। जहाँ किसी तर्क आदि का सहारा लिया जाय वहाँ **न्यायमूलक**। इसके तीन भेद हो सकते हैं; वाक्य-न्याय, तर्क-न्याय और लोक-व्यवहार-न्याय। जहाँ दो वाक्यों का समन्वय चमत्कारपूर्ण हो वहाँ **वाक्य-न्याय**; जैसे—काव्यार्थापत्ति, मिथ्याध्यवसिति आदि। **तर्क-न्याय**, जहाँ किसी तर्क द्वारा चमत्कार उत्पन्न किया गया हो; जैसे—काव्यलिंग, हेतु आदि। **लोकव्यवहार**, जहाँ प्रचलित बातों के आधार पर चमत्कार की उद्भावना हो; जैसे—परिवृत्ति, समाधि, प्रत्यनीक आदि। **अपह्नवमूलक** अलंकार वे हैं, जहाँ किसी प्रकार के भाव-गोपन का वर्णन हो; जैसे--व्याजोक्ति, गूढ़ोत्तर आदि। **कार्य-कारण-सिद्धांत** वाले अलंकारों में कार्य और कारण का वर्णन रहता है; जैसे—अतिशयोक्ति (अक्रम, चपल और अत्यंत), विशेषोक्ति आदि। **विशेषण-वैचित्र्य** के अंतर्गत परिकर आदि आवेंगे। **कवि समयमूलक** अलंकारों में कवि-समाज में प्रचलित परंपरा के सहारे कोई बात कही जाती है; जैसे--रूपकातिशयोक्ति, प्रौढ़ोक्ति, तद्गुण आदि।

हिंदी में आचार्य भिखारीदास ने वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने उपमादि, उत्प्रेक्षादि नाम से वर्गों का निर्देश किया है, पर इन नामों से कोई ठीक संकेत नहीं होता।

हिंदी में यों तो रस और अलंकार के ग्रंथों का निर्माण महाकवि केशवदास के पहले से ही होने लगा था, पर काव्य-रीति पर शास्त्रीय ढंग से इन्होंने ही सबसे प्रथम ग्रंथ लिखे। इसीसे ये हिंदी के प्रथम आचार्य कहे

जाते हैं। इन्होंने 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' नामक दो रीति-ग्रंथ लिखे हैं। रसिक-प्रिया में नायिका-भेद का वर्णन है और कवि-प्रिया में कवि-शिक्षा एवं अलंकार का। यद्यपि केशव की कवि-प्रिया का उस समय बहुत प्रचार था, पर हिंदी में आगे चलकर रीति-शास्त्र पर जितने ग्रंथ रचे गए, वे केशव के अनुगमन पर नहीं बने। इसीसे हिंदी-साहित्य में रीति-काल का आरंभ चिंतामणि (सं० १७००) से माना जाता है। संस्कृत में काव्य-रीति का ज्ञान करानेवाले ग्रंथ दो प्रकार के हैं; एक तो वे जिनमें काव्य के सभी अंगों का बड़े विस्तार और खंडन-मंडन के साथ विवेचन है और दूसरे वे जिनमें संक्षेप में ही सब बातें कही गई हैं, इतने संक्षेप में कि एक ही श्लोक में लक्षण और उदाहरण दोनों आ गए हैं। पहले प्रकार के ग्रंथों में सबसे प्रौढ़ मम्मटाचार्य का 'काव्य-प्रकाश' है और दूसरे ढंग की पुस्तकों में सर्वोत्तम पीयूषवर्षी जयदेव का 'चंद्रालोक' है। हिंदी में रीति-शास्त्र की रचना इन्हीं ग्रंथों के आधार पर हुई है। चंद्रालोक को आधार बनानेवालों ने उसके पंचम मयूख (अलंकार-प्रकरण) की अप्पय दीक्षित कृत टीका 'कुवलयानंद' से भी सहायता ली है। रस और नायिका-भेद लिखनेवालों के आधार 'दशरूपक' और 'साहित्य-दर्पण' जान पड़ते हैं। हिंदी के अधिकांश रीति-ग्रंथों की रचना संक्षिप्त शैली पर ही हुई है। कुछ को छोड़कर सभी ने दोहे में लक्षण दिया है और उदाहरण में अपनी सरस कविता रखी है। हमारी धारणा है कि आरंभ में तो संस्कृत के ग्रंथों का आधार लिया गया, पर आगे चलकर हिंदी के ही पूर्ववर्ती लेखकों के ग्रंथ आधारभूत हुए। हिंदी के ये रीतिकार वस्तुतः भावुक कवि थे। वे रस या अलंकार को आधार बनाकर अपनी काव्य-प्रतिभा दिखलाने के अभिलाषी थे। यही कारण है कि हिंदी में शास्त्रीय ढंग से रीति-शास्त्र का सम्यक् विवेचन करनेवाले ग्रंथ बहुत थोड़े हैं। विवेचनात्मक ढंग पर काव्य-रीति का स्वरूप समझानेवाले प्राचीन आचार्यों में चिंतामणि, कुलपति, श्रीपति, सूरत मिश्र, भिखारीदास मुख्य हैं। इनमें

हिंदी में रीति-शास्त्र

से भिखारीदास के 'काव्य-निर्णय' का अधिक प्रचार हुआ। आगे चलकर गद्य का विकास होने पर हिंदी में लक्षण-ग्रंथों का जो निर्माण आरंभ हुआ, वह बहुत कुछ शास्त्रीय ढंग को लिए हुए है। अब तो लोग वैज्ञानिक ढंग से भी अलंकारों का विश्लेपण करने की रुचि दिखलाने लगे हैं।

संक्षिप्त शैली पर लिखे जानेवाले ग्रंथों में 'भापा-भूपण' का प्रभाव हिंदी पर विशेप पड़ा है। यह इस ढंग की पुस्तकों में सवसे उत्तम है।

भापा-भूपण

मोटे तौर पर इसका अलंकार-प्रकरण 'चंद्रालोक' के पंचम मयूख का उल्था-मात्र है। कहीं-कहीं कवि ने उदाहरण अपनी ओर से रख दिए हैं और कहीं-कहीं लक्षण भी वदल दिए हैं। 'कुवलयानंद' से भी यथास्थान थोड़ी-सी सहायता ली गई है।

(१) वाक्ययोरेकसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता।
तापेन भ्राजते सूर्यः शूरश्चापेन राजते ॥ —चंद्रालोक
प्रतिवस्तूपम समझिए, दोऊ वाक्य समान।
आभा सूर प्रताप तें, सोभा सूर कमान ॥—भापा-भूपण

(२) व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः।
शैला इवोन्नताः सन्तः किन्तु प्रकृतिकोमलाः ॥ —चंद्रालोक
व्यतिरेक जु उपमान तें, उपमेयाधिक देखि।
मुख है अंबुज-सो सखी, मीठी बात बिसेखि ॥—भापा-भूपण

इसमें उदाहरण भिन्न है।

(३) पतत्यविरतं वारि नृत्यन्ति च कलापिनः।
अद्य कान्तः कृतान्तो वा दुःखस्यान्तं करिष्यति ॥—कुवलयानंद
करिहै दुख को अंत अब, जम कै प्यारो कंत।—भापा-भूषण

ऐसी पुस्तकों से लक्षण और उदाहरण याद करने में अत्यधिक सहायता मिलती है। 'भापा-भूषण' की रचना रचयिता ने इसी सौकर्य के

लिये की है। हिंदी के पिछले खेवे के कवियों की भाँति अपना कवित्व दिखलाने के लिये यह पुस्तक नहीं लिखी गई है, इसलिये इसके लेखक को आचार्य की ही कोटि में रखना चाहिए।

रस और नायिका-भेदवाला अंश 'दशरूपक' के आधार पर लिखा गया जान पड़ता है। लेखक ने स्थायीभाव आठ ही रखे हैं, निर्वेद या शम को छोड़ दिया है। नायिका के अवस्थानुसार भेद 'दशरूपक' में ८ ही रखे गए हैं। प्रवत्स्यत्पतिका, प्रवत्स्यत्पतिका और आगतपतिका को प्रोषितपतिका के ही अंतर्गत रखा है। पर हिंदी में प्रवत्स्यत्पतिका और आगतपतिका भेद स्वतंत्र रखे गए हैं। इस पुस्तक में 'आगतपतिका' का उल्लेख नहीं है। 'लालचंद्रिका' में आगतपतिका का भी उदाहरण दिया गया है। जान पड़ता है, किसी ने पीछे से कमी को पूर्ण करने का प्रयत्न किया है। ऐसा प्रयत्न कई स्थानों पर लक्षित होता है। प्रौढ़ा नायिका के स्वभावानुसार भेद गर्विता और अन्य-संयोगदुःखिता कुछ प्रतियों में नहीं हैं, पर कई में हैं।

'भाषा-भूषण' की कई प्राचीन टीकाएँ हैं--वंशीधर कृत 'अलंकार-रत्नाकर', सिंगरामऊ के महाराज रणधीरसिंह 'शिरमौर' कृत 'भूषण-कौमुदी', प्रतापसाहि की टीका, गुलाब कवि की 'भूषण-चंद्रिका', हरिचरणदास की टीका। इनके अतिरिक्त दो अन्य टीकाओं का नाम प्राचीन पुस्तकों की 'खोज' की रिपोर्ट में और मिलता है। इसकी एक अँगरेजी टीका डा० ग्रियर्सन ने अपनी संपादित 'लालचंद्रिका' (लल्लूलाल कृत 'बिहारी सतसई' की टीका) के आदि में दी है।

'भाषा-भूषण' के रचयिता प्रसिद्ध हिंदू-नरेश महाराज जसवंतसिंहजी थे। ये मारवाड़ के शासक थे। औरंगजेब इनसे बराबर भयाकुल रहा करता था। ये महाराज गजसिंह के द्वितीय पुत्र थे। इनका जन्म सं० १६८२ में हुआ था। इनके बड़े भाई अमरसिंहजी अपने उच्छृंखल स्वभाव के कारण निर्वासित कर दिए गए थे। इसलिये पिता की मृत्यु के पश्चात् सं० १६९५ में ये सिंहासना-

कवि-परिचय

रूढ़ हुए। ये वड़े अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ और तत्त्वज्ञानी थे। इनके समय में विद्वानों का अच्छा आदर होता था और राज्य में विद्या का भी अच्छा प्रचार था। इन्होंने स्वयं तो रचना की ही, औरों को भी ग्रंथ रचने के लिये प्रोत्साहित किया। औरंगजेव ने इन्हें गुजरात का सूवेदार वना दिया था और शाइस्ता खाँ के साथ शिवाजी को दवाने के लिये भी भेजा था। कहा जाता है कि शाइस्ता खाँ की दुर्दशा इन्हींके भेद से हुई थी। वहाँ से इन्हें अफगानों को दवाने के लिये कावुल जाना पड़ा। वहीं सं० १७३८ में इनका स्वर्गवास हुआ।

'भाषा-भूषण' के अतिरिक्त इनके अन्य सभी ग्रंथ तत्त्वज्ञान-विषयक हैं—अपरोक्ष-सिद्धांत, अनुभव-प्रकाश, आनंद-विलास, सिद्धांत-वोध, सिद्धांत-सार और प्रवोध-चंद्रोदय नाटक। इन सवकी रचना पद्य में ही हुई है।

काव्य-रीति का अभ्यास करनेवालों के लिये 'भाषा-भूषण' एक सुंदर और छोटी पुस्तक है। इसीलिये इसका इतना अधिक प्रचार हुआ। प्रस्तुत संस्करण उसी उद्देश्य को सामने रखकर प्रस्तुत किया गया है, जिसको लेकर स्वयं मूलग्रंथ का प्रणयन हुआ था। इसीलिये विषय को हृदयंगम कराने के विचार से अंत में रस और नायिका-भेद के उदाहरण भी दोहों में ही संगृहीत कर दिए गए हैं। भूमिका में काव्य एवं शब्द-शक्ति का भी यथावश्यक निरूपण कर दिया गया है और सभी स्थानों पर उदाहरण दोहों में ही दिए गए हैं। मूल की पाद-टिप्पणी में पाठांतर और परिशिष्ट की पाद-टिप्पणी में कठिन शब्दों के अर्थ भी दिए गए हैं। अँगरेजी जाननेवालों की सुविधा के लिये अंत में 'अँगरेजी पर्याय' भी रखे गए हैं। आशा है, यह संस्करण सब प्रकार से विद्यार्थियों के लिये उपयोगी सिद्ध होगा।

उपसंहार

विजयादशमी, १९९०
ब्रह्मनाल, काशी।

—विश्वनाथप्रसाद मिश्र

विषय-सूची

भाषा-भूषण

अथ मंगलाचरण-नाम प्रथमः प्रकाशः

मंगलाचरण

(दोहा)

विघनहरन तुम हौ सदा, गनपति होहु सहाय।
विनती कर जोरें[1] करौं, दीजै ग्रंथ बनाय॥ १॥

शब्दार्थ— विघनहरन = विघ्नों को दूर करनेवाले। गनपति = (गणपति) हे गणेश। सहाय = सहायक। विनती = प्रार्थना। कर जोरें = हाथ जोड़े हुए।

भावार्थ—हे गणपति, आप सदा विघ्नों को हरण करनेवाले हैं। इसलिये मैं हाथ जोड़कर विनय करता हूँ, आप मेरे सहायक होइए और इस ग्रंथ को (उत्तम) बना दीजिए।

छंद—दोहा एक मात्रिक अर्धसम छंद है। इसके विषम (पहले और तीसरे) चरणों में १३-१३ और सम (दूसरे और चौथे) चरणों में ११-११ मात्राएँ होती हैं। यह दो दलों (पंक्तियों) में लिखा जाता है। (दूसरे और चौथे चरणों के) अंत में तुक मिलता है और गुरु-लघु वर्ण (ऽ।) रहते हैं। विषम चरणों के आरंभ में जगण (।ऽ।) और तगण (ऽऽ।) वर्जित हैं। दोहे के कितने ही भेद किए गए हैं, पर उनका वर्णन यहाँ अनपेक्षित है। उनका विवरण किसी पिंगल-ग्रंथ में देखा जा सकता है।

१—जोरी।

सूचना—भारतीय काव्य-शैली के अनुसार विघ्नवारण के लिये गणेश जी की वंदना करके आगे के चार छंदों में इष्टदेव श्रीकृष्ण की वंदना करते हैं। मंगलाचरण तीन प्रकार के कहे गए हैं—वस्तुनिर्देशात्मक, नमस्कारात्मक और आशीर्वादात्मक। यह नमस्कारात्मक मंगल है।

आगे के मंगलाचरण को वस्तुनिर्देशात्मक मंगल के अंतर्गत भी रख सकते हैं, क्योंकि इस पुस्तक में रस और नायक-नायिकादि का वर्णन है और श्रीकृष्णजी प्रमाण-ग्रंथों में महानायक माने गए हैं। जहाँ पर 'जय' शब्द का व्यवहार होता है वहाँ आशीर्वादात्मक मंगल समझना चाहिए।

जिहिं[1] कीन्हौ परपंच सब, अपनी इच्छा पाय।
ताकौं हौं वंदन करौं, हाथ जोरि सिर नाय॥ २॥

शब्दार्थ—जिहिं = जिसने। परपंच = (प्रपंच) संसार।

भावार्थ—जिसने अपनी ही इच्छा से समस्त संसार की सृष्टि की है उस (परमेश्वर) की मैं हाथ जोड़कर और सिर नवाकर वंदना करता हूँ।

करुना करि[2] पोषत सदा, सकल सृष्टि के प्रान।
ऐसे ईस्वर को हिये, रहौ रैन-दिन ध्यान॥ ३॥

शब्दार्थ—करुना = दया, कृपा। पोषत = पालन करता है। रहौ = रहे। रैन = (रजनी) रात्रि।

भावार्थ—जो कृपा करके सदैव समस्त सृष्टि के प्राणों (प्राणियों) का पोषण करता रहता है, ऐसे ईश्वर का ध्यान मेरे हृदय में रातोदिन बना रहे।

मेरे मन मैं तुम बसौ[3], ऐसौ क्यौं कहि जाय।
तातैं यह मन आप सौं, लीजै क्यौं न लगाय॥ ४॥

शब्दार्थ—लीजै लगाय = लगा लें।

भावार्थ—'आप मेरे हृदय में बसें' ऐसी बात कैसे कही जा सकती

१—जिन्ह। २—करुनाकर। ३—रही।

है (क्योंकि आपका स्वरूप विराट् है और मेरा हृदय छोटा है), इसलिये मेरे मन को ही आप अपने से क्यों नहीं लगा लेते ? (अर्थात् आपकी भक्ति ही मेरे लिये श्रेयस्कर है)।

रागी मन मिलि स्याम सों, भयौ न गहिरौ लाल ।
यह अचरज उज्जल भयौ, तज्यौ मैल तेहि काल ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—रागी = प्रेम करनेवाला, लाल । स्याम = श्रीकृष्ण, काला । अचरज = (आश्चर्य) । उज्जल = (उज्ज्वल) सफेद । मैल = मलिनता, कालिमा । तेहि काल = उसी समय ।

भावार्थ—मेरा रागी (प्रेमी, लाल) मन श्याम (श्रीकृष्ण, काले) से मिलकर और अधिक गहरा लाल नहीं हुआ । यह आश्चर्य की बात है कि (उल्टा) उज्ज्वल हो गया और उसने तुरत ही मैल भी त्याग दिया ।

सूचना—इस दोहे में 'द्वितीय विषमालंकार' है । इससे 'बिहारी' का यह दोहा मिलाइए—

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय ।
ज्यौं-ज्यौं बूड़ै स्याम-रँग, त्यौं-त्यौं उज्जल होय ॥

इति मंगलाचरण-नाम प्रथमः प्रकाशः ।

अथ नायक-नायिका-भेद-वर्णन-नाम द्वितीयः प्रकाशः

चतुर्विध नायक-वर्णन

एक नारि सों हित करै, सो अनुकूल बखानि ।
बहु नारिन सों प्रीति सम, ताको दच्छिन जानि ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—हित = प्रेम । सम = बराबर, एक-सी ।

भावार्थ—केवल एक ही स्त्री से प्रेम करनेवाले नायक को **अनुकूल** कहते हैं (जैसे, रामचंद्र)। अनेक स्त्रियों से समान प्रेम करनेवाले नायक को **दक्षिण** कहते हैं (जैसे, श्रीकृष्ण)।

मीठी बातैं सठ करै, करिकै महा बिगार।
आवै लाज न धृष्ट कौं, किएँ कोटि धिक्कार ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—बिगार = लड़ाई-झगड़ा।

भावार्थ—जो अपराध करने पर मीठी बातें (करके नायिका को वश में) करे उसे **शठ** नायक कहते हैं। **धृष्ट** वह नायक है जिसे (अपराध करने पर) करोड़ों धिक्कार देने पर भी लज्जा न आवे।

सूचना—नायकों के ये चारो भेद शृंगार रस में ही होते हैं, अन्यत्र नहीं। नाट्यशास्त्र में पहले नायकों के ये चार भेद किए गए हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशांत। ये भेद स्वभावानुसार हैं। इसी प्रकार गुण के अनुसार उत्तम, मध्यम, अधम तीन भेद और भी हो सकते हैं। इन सब नायकों को यदि शृंगारवाले नायकों से गुणित कर दें तो अड़तालीस भेद हुए (४ × ४ × ३ = ४८)। इस प्रकार शृंगारी नायकों की संख्या ४८ हुई।

त्रिविध नायक-वर्णन

स्वकिया-पति कौं पति कहैं, परकीया[1] उपपत्ति।
वैसिक नायक की सदा, गनिका सौं हित[2]-रत्ति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—स्वकिया = (स्वकीया) विवाहिता स्त्री। परकीया = दूसरे की स्त्री। गनिका = वेश्या। हित = प्रेम। रत्ति = (रति) प्रीति।

भावार्थ—स्वकीया स्त्री के पति को **पति** कहते हैं (अर्थात् शास्त्र-

---

१—परनारी। २—हीं सौं।

नुसार जिस पुरुष के साथ किसी स्त्री का विवाह होता है, वह पुरुष उस स्त्री का **पति** है)। जो दूसरे की स्त्री से प्रेम करता है उस नायक को **उपपति** कहते हैं। जो वेश्या से प्रेम रखता है उस नायक का नाम **वैशिक** है।

सूचना—नायकों के जो भेद पहले किए गए हैं वे कर्तव्यानुसार हैं और ये भेद धर्मानुसार हैं।

चतुर्विध नायिका-जाति-वर्णन

पद्मिनि, चित्रिनि, संखिनी, अरु हस्तिनी वखानि।
त्रिविध नायिका-भेद मैं, चारि जाति तिय जानि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—तिय = स्त्री (नायिका)।

भावार्थ—अनेक प्रकार के नायिका-भेद में—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी—ये नायिकाओं के चार जाति-गत भेद समझने चाहिएँ।

त्रिविध नायिका-वर्णन

स्वकिया व्याही नायिका, परकीया पर-बाम।
सो सामान्या नायिका, जाकों धन सों काम ॥ १० ॥

शब्दार्थ—पर-बाम = दूसरे की स्त्री।

भावार्थ—(शास्त्रानुसार) व्याही स्त्री को **स्वकीया** कहते हैं। दूसरे की स्त्री (यदि किसी दूसरे पुरुष से प्रेम करे तो उस) को **परकीया** कहते हैं। जिस स्त्री को धन से ही काम हो (जो धन के ही लिये बहुतों से प्रेम करे) वह **सामान्या** नायिका होती है।

मुग्धादि तीनि अवस्था के भेद

बिनु जानें अज्ञात है, जानें जोबन ज्ञात।
मुग्धा के द्वै भेद ये, कवि सबै[1] बरनत जात ॥ ११ ॥

१—कवि इहि विधि।

शब्दार्थ—जोबन = यौवन। बरनत जात = वर्णन करते हैं।

भावार्थ—(अवस्था भेद से नायिकाएँ तीन प्रकार की होती हैं—मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा। इनमें से) सब कवि **मुग्धा** के दो भेद वर्णन करते हैं—(अज्ञातयौवना और ज्ञातयौवना)। जो नायिका अपने यौवन (के आगमन) को नहीं जान पाती उसे **अज्ञातयौवना** कहते हैं और जो जान लेती है उसे **ज्ञातयौवना** कहते हैं।

मध्या सो जामैं दुवौ[1], लज्जा-मदन समान।
अति प्रवीन प्रौढ़ा वहै, जाके पिय[2] मैं प्रान॥ १२॥

शब्दार्थ—दुवौ = दोनों ही। मदन = काम (काम-वासना)। प्रवीन = चतुर। पिय = पति।

भावार्थ—**मध्या** नायिका वह है जिसमें लज्जा और काम-वासना दोनों ही समान हों। **प्रौढ़ा** नायिका वह है जो (काम-कला में) अत्यंत चतुर हो और जिसके प्राण (चित्त) पति में ही लगे रहें।

परकीया-भेद-लक्षण

क्रिया वचन मैं चातुरी, यहै विदग्धा-रीति।
बहुत दुराएँहू, सखी-लखी[3] लच्छिता-प्रीति॥ १३॥

शब्दार्थ—दुराएँहू = छिपाने पर भी। सखी-लखी = सखी के द्वारा लखी गई।

भावार्थ—**विदग्धा** परकीया नायिका की रीति यह है कि वह क्रिया और वचनों में चातुर्य दिखलाती है (पहली को **क्रिया-विदग्धा** और दूसरी को **वचन-विदग्धा** कहते हैं)। बहुत छिपाने पर भी जिसकी प्रीति सखी के द्वारा लक्षित हो जाय उस नायिका को **लक्षिता** कहते हैं।

१—दुहूँ, दोऊ। २—पति। ३—लखै।

गुप्ता रति-गोपन[1] करै, तृप्ति न कुलटा आहि।
निहचै[2] जानत पिय-मिलन, मुदिता कहिए ताहि ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—रति-गोपन = प्रीति को छिपाना। आहि = है।

भावार्थ—जो नायिका प्रीति को छिपा लेती है उसे **गुप्ता** कहते हैं। जिसे (काम-केलि से) तृप्ति न हो उसे **कुलटा** कहते हैं। जो प्रिय के मिलने (प्राप्त होने) को निश्चित समझती है उसे **मुदिता** कहते हैं।

बिनसै ठौर सहेट को, आगे होइ न होइ।
जाय सकै न सहेट मैं, अनुसयना है[3] सोइ ॥ १५ ॥

शब्दार्थ-ठौर = स्थान। सहेट = प्रिय से मिलने का स्थान, संकेत-स्थल।

भावार्थ—(१) जिसका (वर्तमान) सहेट-स्थल नष्ट हो जाय, या (२) जिसे इस बात की चिंता हो कि भविष्य में होनेवाला हमारा संकेत-स्थल रहेगा या नहीं, अथवा (३) जो संकेत-स्थान को (ठीक समय पर) न जा सके (इसलिये वहाँ जाकर पीछे व्याकुल हो) उसे **अनुशयाना** कहते हैं।

नवविध नायिका-वर्णन

प्रोषितपतिका बिरहिनी, अतिरिस पति सों होय।
पुनि पाछे पछिताय मन, कलहंतरिता सोय ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—विरहिनी = विरह में रहनेवाली, पति से वियुक्त होकर दुखी रहनेवाली। रिस = (रोष) क्रोध (क्रुद्ध)।

भावार्थ—विरहिणी नायिका को **प्रोषितपतिका** (जिसका पति विदेश में है) कहते हैं। जो नायिका पहले पति से अत्यंत क्रुद्ध रहे, पर पीछे (अपने क्रोध के लिये) मन में पश्चात्ताप करे उसे **कलहांतरिता** कहते हैं।

१–गोपित। २–निस्चय। ३–अनूसयाना।

पति आवै कहुँ रैनि वसि, प्रात खंडिता-गेह ।
जाति मिलन अभिसारिका, सजि सिँगार सब देह ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—रैनि = (रजनी) रात । गेह = घर ।

भावार्थ—जिस नायिका का पति रात में कहीं अन्यत्र रहकर प्रातःकाल घर आए उसे **खंडिता** कहते हैं। जो शरीर में सब प्रकार का शृंगार करके प्रिय से मिलने के लिये जाती है, उसे **अभिसारिका** कहते हैं ।

पिय सहेट आयौ[२] नहीं, चिंता मन मैं आनि ।
सोचु करै[१] संताप सों, उत्कंठिता बखानि ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—पिय = (प्रिय) । सहेट = संकेत-स्थल । आनि = लाकर ।

भावार्थ—'प्रिय संकेत-स्थल में (अभी तक) नहीं आया' यह चिंता करके जो संताप के कारण सोच करती है उसे **उत्कंठिता** कहते हैं ।

विन पाएँ संकेत पिय, विप्रलब्ध-तन ताप ।
वासकसज्जा तन सजै, पिय-आवन जिय[३] थाप ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—संकेत = सहेट में । तन = शरीर । ताप = दुःख । आवन = आगमन । जिय थाप = हृदय में निश्चित करके ।

भावार्थ—संकेत स्थल में प्रिय के न मिलने पर जिसके शरीर को दुख होता है उसे **विप्रलब्धा** कहते हैं। प्रिय के आगमन की बात को मन में स्थिर करके जो अपने शरीर को सजाती है उसे **वासकसज्जा** कहते हैं।

जाके पति आधीन, कहि स्वाधिनपतिका ताहि ।
भोर सुनै पिय को गमन, प्रवस्यत्पतिका आहि ॥ २० ॥*

शब्दार्थ—कहि = कहो । भोर = प्रातःकाल ।

१—करि । २—आवै । ३—की ।

* इस दोहे के बाद 'लालचंद्रिका' में यह दोहा अधिक है—

जाको पिय आवै मिलन, अपनी तिय को होय ।
लच्छन कविजन कहत हैं, आगतपतिका सोय ॥

भावार्थ—पति जिसके अधीन रहे उसे **स्वाधीनपतिका** कहते हैं। जो प्रातःकाल अपने प्रिय का (विदेश-) गमन सुनती है, उसे **प्रवत्स्यत्पतिका** कहते हैं।

धीराधीरादि-भेद

गोप-कोप धीरा करै, प्रगट अधीरा कोप।
लच्छन धीराधीर को, कोप प्रगट अरु गोप ॥ २१ ॥❀

शब्दार्थ—गोप-कोप = गुप्त क्रोध।

भावार्थ—जो नायिका (रात में अन्यत्र रहकर आए हुए पति पर) गुप्त क्रोध करती है (जिसका क्रोध प्रत्यक्ष नहीं होता) उसे **धीरा** कहते हैं। जिसका क्रोध प्रकट होता है उसे **अधीरा** कहते हैं। जिसका क्रोध प्रकट और अप्रकट दोनों रूपों में होता है उसे **धीराधीरा** कहते हैं। (मुग्धा, प्रौढ़ा और धीराधीरादि भेद केवल स्वकीया में ही होते हैं)।

त्रिविध मान

सहजैं हाँसी-खेल मैं, बिनय-बचन सुनि कान[1]।
पाँय परें पिय के मिटै, लघु मध्यम गुरु मान ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—सहजैं = सरलता से।

भावार्थ—जो मान सरलता से, हँसी-खेल में ही दूर हो जाय उसे **लघुमान** कहते हैं। जो प्रार्थना के वचन कान से सुनने पर दूर हो उसे **मध्यममान** कहते हैं। जो प्रिय के पैर पड़ने पर मिटे उसे **गुरुमान** कहते हैं।

इति नायक-नायिका-भेद-वर्णन-नाम द्वितीयः प्रकाशः।

१—मुसिकान।

❀ इसके पहले कई प्रतियों में यह दोहा भी मिलता है—

गर्विता-अन्यसंभोगदुःखिता-लच्छण—

रूप प्रेम अभिमान तैं, दुविध गर्विता जानि।
अन्यसँभोग जु दुःखिता, अनत मिलन पिय मानि ॥

अथ भाव-हाव-वर्णन-नाम तृतीयः प्रकाशः

सात्त्विक भाव

स्तंभ, कंप, स्वरभंग कहि, बिबरन, आँसू, स्वेद।
बहुरि प्रलय, रोमांच पुनि, आठौ सात्विक-भेद ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—बहुरि = पुनः।

भावार्थ—सात्विक भाव आठ प्रकार के होते है—स्तंभ, कंप, स्वर-भंग वैवर्ण्य, अश्रु, स्वेद, रोमांच और प्रलय।

हाव-भेद-वर्णन

होहिं सँजोग-सिँगार मैं, दंपति के तन आय।
चेष्टा जे बहु भाँति की, ते कहिए दस हाय ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—सँजोग-सिँगार = जिस समय पति-पत्नी (नायक-नायिका) एक साथ रहें, वियुक्त न हों। दंपति = स्त्री-पुरुष (नायक नायिका)। हाय = हाव।

भावार्थ—संयोग-शृंगार के समय नायक-नायिका के शरीर में जो अनेक प्रकार की चेष्टाएँ दिखाई पड़ती हैं उन्हें **हाव** कहते हैं। ये चेष्टाएँ दस प्रकार की होती हैं।

पिय-प्यारी रति-सुख करैं, लीला हाव सु जानि।
बोलि सकैं नहिं लाज तें, बिहित सु हाव बखानि ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—पिय-प्यारी = नायक-नायिका। रति = काम-क्रीड़ा।

भावार्थ—जब नायक और नायिका (सानंद) काम-क्रीड़ा करते हैं तो उसे **लीला** हाव जानना चाहिए। जब वे दोनों लज्जा के कारण एक-दूसरे से बोल नहीं सकते तो उसे **विहृत** हाव कहते हैं।

१—अश्रू। २—पुलक अरु प्रलय। ३—कहि, गुनि। ४—विकृत।

बिच्छिति तिय की रीसतें[1], भूषन अलप सुहाय।
रस सों भूषन भूलिकै, पहिरै बिभ्रम हाय ॥२६॥

शब्दार्थ—रीस = बराबरी, समता। भूषन = गहना। अलप = (अल्प) थोड़ा। रस = आनंद। हाय = हाव।

भावार्थ—अन्य स्त्रियों की समता में जब नायिका के शरीर पर थोड़े से ही आभूषण होने पर वे अत्यंत सुशोभित जान पड़ें तो उसे **विच्छित्ति** कहते हैं। जब नायिका आनंद (में मग्न होने) के कारण गहनों को भूलकर (अंडबंड) पहन ले तो उसे **विभ्रम** हाव कहते हैं।

चितवनि बोलनि चलनि[2] मैं, रस की रीति बिलास।
अंग-अंग भूषन लसत[3], ललित सु हाव-प्रकास ॥२७॥

शब्दार्थ—रस = आनंद।

भावार्थ—देखने, बोलने और चलने में शृंगारिक रीति (चेष्टाओं) को **विलास** हाव कहते हैं। अंग-अंग में गहनों के सुशोभित होने से **ललित** हाव का प्रकाश होता है।

क्रोध हर्ष अभिलाष भय, किलकिंचित मैं होय।
रति-सुख मैं दुख दरसही, कुट्टमीत कहि[4] सोय ॥२८॥

शब्दार्थ—दरसही = दिखलावे।

भावार्थ—जब क्रोध, हर्ष, अभिलाष, भय (आदि) भावों का गुंफन हो तो उसे **किलकिंचित** हाव कहते हैं। जब नायिका रति के सुख में दुःख प्रकट करे तो **कुट्टमित** हाव होता है।

प्रगट करै रिस पीय सों, बात न भावति कान।
आए आदर ना करै, धरि बिब्बोक गुमान ॥२९॥

शब्दार्थ—रिस = क्रोध। पीय = प्रिय। गुमान = अभिमान।

१—काहू वेर मैं। २—चाल। ३—सोहत अँग-अँग भूपननि। ४—हाव कुट्टमित।

भावार्थ—जब नायिका प्रिय पर क्रोध प्रकट करे और उस (नायक) के कानों में खटकनेवाली बात कहे और उसके आने पर अभिमान धारण कर उसका आदर न करे तो उसे **विब्बोक** हाव कहते हैं।

पिय की बातनि के चलें, तिय अँगराइ जँभाइ।
मोट्टाइत सो जानिए, कहैं सबै कबिराय ॥ ३० ॥*

शब्दार्थ—अगराइ = अँगड़ाना, आलस्य से शरीर को ऐंठना या मोड़ना। जंभाना = आलस्य से मुँह बाना।

भावार्थ—जब नायिका प्रिय की बातों की (चर्चा) चलने पर अँगड़ाने और जंभाने लगे तो कवि लोग उसे **मोट्टायित** हाव कहते हैं।

दस विरह की दशा-वर्णन

नैन मिले मनहूँ मिल्यो, मिलिबे को अभिलाख।
चिंता जाति न बिनु मिलें, जतन किएँहू लाख ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ जतन = (यत्न)।

भावार्थ—पहले नेत्र मिले (आँखें चार हुईं), फिर मन भी मिल गया (दोनों के हृदयों में प्रेम उत्पन्न हो गया)। अब जो (शरीर द्वारा) मिलने की इच्छा रहती है उसी को **अभिलाष** दशा कहते हैं। लाखों यत्न करने पर भी जब मिलन नहीं होता तो ऐसी परिस्थिति में चित्त के दुखी होने को **चिंता** कहते हैं।

सुमिरन रस-संभोग को, करि-करि लेति उसास।
करति रहति पिय-गुन-कथन, मन उद्वेग उदास ॥३२॥

---

* वेंकटेश्वर प्रेसवाली प्रति में २९-३० के स्थान पर एक ही दोहा इस प्रकार मिलता है—

मोट्टाइत चाहै दरस, बात न भावति कान।
आप आदर ना करै, धरि बिब्बोक गुमान ॥

शब्दार्थ—सुमिरन = स्मरण। रस = आनंद। उसास = (ऊर्द्धश्वास)।

भावार्थ—संयोग के आनंद की वातों को सोचते रहने और उन्हें सोच सोचकर ऊर्द्धश्वास लेते रहने को **स्मरण** दशा कहते हैं। प्रिय के गुणों को कहते रहने को **गुण-कथन** कहते हैं। मन के उदास और व्याकुल रहने का नाम **उद्वेग** है।

विनु समझै कछु बकि उठै, कहिए ताहि प्रलाप।
देह घटै मन मैं बढ़ै विरह, व्याधि-संताप ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—विरह = (विरह का) दुःख।

भावार्थ—विना समझे-बूझे (अंडबंड) बक उठने को **प्रलाप** कहते हैं। शरीर का क्षीण होना और मन में दुःख का बढ़ना, इस प्रकार के संताप का नाम **व्याधि** है।

तिय-सूरत[1] मूरत भई, जड़ता भइ सब गात।
सो कहिए उन्माद-बस, सुधि विनु निसि-दिन[2] जात ॥३४॥

शब्दार्थ—सूरत = शक्ल, स्वरूप। मूरत = मूर्ति। गात = (गात्र) शरीर।

भावार्थ—जब नायिका का स्वरूप मूर्ति की भाँति (निश्चेष्ट) हो जाता है (सारे शरीर में काठ-सा मार जाता है) तो उस दशा को **जड़ता** कहते हैं। जब नायिका के रात और दिन विना सुध के (चेतना-हीन अवस्था में) व्यतीत हों तो उसे **उन्माद** कहते हैं।

सूचना—विरह की दस दशाएँ होती हैं, पर यहाँ केवल नौ दशाओं का ही वर्णन किया गया है। एक दशा (मरण) छोड़ दी गई है। मरण दशा के वर्णन का तो निषेध है, पर परिभाषा लिखने का नहीं।

१—मूरति। २—सुधि-बुधि विनु निसि।

नवरस और स्थायीभाव-वर्णन

प्रथम सिँगार, सुहास पुनि[1], करुना, रौद्र, सुजान[2] ।
वीर, भयरु, वीभत्स कहि, अद्भुत सांत बखान ॥३५॥

शब्दार्थ—सिँगार = श्रृंगार । हास = हास्य ।

भावार्थ—हे सुजान, प्रथम श्रृंगार के सहित हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भय, वीभत्स, अद्भुत और शांत ये नव रस कहे जाते हैं ।

रती, हास्य[3] अरु सोक पुनि, क्रोध उछाहरु भीति ।
निंदा विस्मय आठ ये, स्थायीभाव-प्रतीति ॥३६॥

शब्दार्थ—हास्य = हास । उछाह = उत्साह । भीति = भय । विस्मय = आश्चर्य । प्रतीति = ज्ञान ।

भावार्थ –(उक्त रसों के क्रमशः निम्नलिखित) रति, हास्य, शोक क्रोध, उत्साह, भय, निंदा और विस्मय ये आठ स्थायीभाव हैं ।

सूचना—यहाँ पर नियमानुसार ९ रसों के ९ स्थायीभाव नहीं लिखे गए हैं, शांतरस का स्थायीभाव शम या निर्वेद छोड़ दिया गया है । नाट्यशास्त्रकारों ने शांतरस को नाटकों के उपयुक्त नहीं माना है, पर शांत को उन्होंने श्रव्यकाव्य के उपयुक्त-कहा है । 'वीभत्स' रस का स्थायीभाव घृणा या जुगुप्सा है, निंदा नहीं ।

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव-वर्णन

जो रस को दीपत करै, उद्दीपन है[4] सोय ।
सो अनुभाव जु ऊपजै, रस को अनुभव होय ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ—दीपत = (दीप्त) प्रज्वलित ।

भावार्थ—जो रस को उद्दीप्त करते हैं (जगाते या बढ़ाते हैं) उन्हें

१–रस सिँगार सो हास्य पुनि । २–हि जान । ३–रति हासो । ४–कहि ।

उद्दीपन विभाव कहते हैं। जिन (चेष्टाओं) के उत्पन्न होने से रस का अनुभव होने लगता हैं उन्हें **अनुभाव** कहते हैं।

आलंबन आलंबि[1] रस, जामैं रहै बनाय[2]।
नवहूँ रस मैं संचरैं, ते संचारीभाय[3] ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ -आलंबि = आश्रय लेकर। बनाय = भलीभाँति। भाय=भाव।

भावार्थ—रस जिनमें भलीभाँति आश्रय लेकर रहें वे **आलंबन** विभाव कहे जाते हैं। जो भाव नवो रसों में संचार करते रहते हैं (उठते और नष्ट होते रहते हैं) उन्हें **संचारीभाव** कहते हैं।

व्यभिचारीभाव

निर्बेद, ग्लानि, संका, गरब[4], चिंता, मोह, बिषाद।
दैन्य, असूया, मृत्यु, मद, आलस, श्रम, उन्माद ॥३९॥
आकृति-गोपन, चपलता, अपसमार, भय जानि[5]।
व्रीड़ा, जड़ता, हरष, धृति, मति, आवेग बखानि ॥४०॥
उत्कंठा, निद्रा, स्वपन, व्याधि[6], उग्रता भाय।
अमर्ष, विमँर्ष[7], वितर्क, स्मृति ये तेतीस गिनाय ॥४१॥*

१—अवलंबि। २—बनाउ। ३—भाउ। ४—निर्वेदै संका गरब। ५—ग्लानि। ६—बोध। ७—व्याधि अमर्ष।

* इसके बाद एक प्रति में ये दोहे अधिक हैं—

अलंकार सामान्य अरु, कहैं विसिष्ट प्रकार।
सब्द अर्थ तें जानिए, दोउन के व्यवहार ॥
ग्रंथ बढ़ै सामान्य तें, राजभूमि-परसंग।
तातें कछु संक्षेप तें, कहि विसिष्ट के अंग ॥

शब्दार्थ – निर्वेद = खेद । असूया = ईर्ष्या । आकृति-गोपन = इसके लिये शास्त्रीय शब्द 'अवहित्था' है । अपस्मार = मृगी रोग । व्रीड़ा = लज्जा । अमर्ष = क्रोध । विमर्ष = विवेचन, जिसे शास्त्रीय शब्द में 'विबोध' (जागना) कहते हैं ।

भावार्थ—सरल है ।

इति भाव-हाव-वर्णन-नाम तृतीयः प्रकाशः ।

अथ अर्थालंकार-नाम चतुर्थः प्रकाशः

उपमालंकार

उपमेयरु उपमान जहँ, वाचक धर्म सु चारि ।
पूरन-उपमा, हीन तहँ लुप्तोपमा विचारि ॥४२॥

शब्दार्थ—चारि = चारो । हीन = कम (लुप्त) । विचारि = समझो ।

भावार्थ—जहाँ (उपमा के चारो अंग) उपमेय, उपमान, वाचक और (साधारण) धर्म (स्पष्ट रूप से कहे गए) हों, वहाँ **पूर्णोपमा** होती है । जहाँ (इन चारो में से) कोई (एक, दो अथवा तीन) लुप्त हो वहाँ **लुप्तोपमा** समझो ।

सूचना—'उपमा' शब्द का अर्थ है—उप = समीप + मा = तौलना । इस अलंकार में दो पदार्थों की समता या बराबरी का अंदाज लगाया जाता है । इसके चार अंग होते हैं । जिस वस्तु का वर्णन अभीष्ट होता है और जिसके लिये दूसरे पदार्थ की समता दी जाती है उसे **उपमेय** कहते हैं । उपमेय की समता के लिये जो पदार्थ आता है उसे **उपमान** कहते हैं । जिस गुण के कारण दोनों वस्तुओं में समता दिखाई जाती है, उसका नाम **धर्म** है । जिन शब्दों के द्वारा उपमा लक्षित होती है, वे **वाचक** कहे जाते हैं ।

जब उपमेय और उपमान में भेद रहते हुए भी समान-धर्म दिखलाया जाता है तो उसे **उपमा** कहते हैं। ❀

पूर्णोपमा

यहि विधि सब समता मिलै, उपमा सोई जानि।
ससि-सो उज्जल तिय-बदन, पल्लव-से मृदु पानि ॥४३॥

शब्दार्थ—सब=चारो अंग। जानि=जानो। बदन=मुख। पानि=हाथ।

भावार्थ—इस प्रकार जब सब (चारो अंगों की) समता (पूर्णता) मिले तो उसे ही **उपमा** (**पूर्णोपमा**) समझना चाहिए। जैसे, नायिका का मुख चंद्रमा-सा सुंदर है ; उसके हाथ पल्लव के समान कोमल हैं।

लुप्तोपमा

बाचक धर्मरु बर्ननिय, है चौथो उपमान।
इक बिनु द्वै बिनु तीनि बिनु, लुप्तोपमा प्रमान ॥४४॥

शब्दार्थ—बर्ननिय=(वर्णनीय) उपमेय।

भावार्थ—(उपमा के चार अंग हैं) वाचक, धर्म, उपमेय और उपमान। इन चारो में से जब कोई एक, दो या तीन नहीं रहेंगे तो **लुप्तोपमा** होगी।

सूचना—लुप्तोपमाएँ प्रस्तार के हिसाब से १४ हो सकती हैं। पर वस्तुतः केवल आठ लुप्तोपमाओं में ही चमत्कार-विशेष रहता है, शेष में नहीं। इसलिये निम्नलिखित लुप्तोपमाएँ नहीं बन सकतीं—उपमेयलुप्ता, धर्मोपमेयलुप्ता, उपमेयोपमानलुप्ता, धर्मोपमानोपमेयलुप्ता, वाचकोपमेयोपमानलुप्ता और वाचकधर्मोपमेयलुप्ता। 'चंद्रालोक' में भी लिखा है—

वर्ण्योपमानधर्माणामुपमावाचकस्य च।
एकद्वित्र्यनुपादानैर्भिन्ना लुप्तोपमाष्टधा ॥

❀ साधर्म्यमुपमा भेदे—मम्मटाचार्य।

विजुरी-सी पंकजमुखी, कनकलता तिय लेखि।
वनिता रस-सिंगार की, कारन-मूरति पेखि ॥४५॥

शब्दार्थ—विजुरी =(सं० विद्युत्) बिजली। पंकजमुखी = कमल के समान मुखवाली (नायिका)। कनकलता = स्वर्णलता, सोने की लता। तिय=(स्त्री)। लेखि = समझो। वनिता = स्त्री। कारन-मूरति = कारण की मूर्ति, कारण-स्वरूप।

भावार्थ—नायिका बिजली के समान है। उस स्त्री को स्वर्णलता समझो। शृंगाररस की कारण-मूर्ति (कारण-रूप) उस नायिका को देखो।

समन्वय—इस दोहे में क्रम से एक, दो और तीन के लोप की लुप्तोपमाओं के उदाहरण हैं। 'नायिका बिजली के समान है' में 'दीप्ति या चंचलता' धर्म का लोप है, इससे **धर्मलुप्ता**। 'उस स्त्री को स्वर्णलता समझो' में 'समान' वाचक और 'सुंदर' आदि धर्म का लोप है, इससे यह **धर्मवाचकलुप्ता** है। तीसरे उदाहरण में केवल नायिका का वर्णन है, उसमें उपमान, धर्म और वाचक का लोप है, इससे वह **धर्मवाचकोपमानलुप्ता** है।

सूचना—शास्त्रीय विचार से पिछला उदाहरण ठीक नहीं है। जहाँ तीन अंगों का लोप होता है अर्थात् केवल उपमेय रह जाता है, वहाँ कुछ शब्द ऐसे रहते हैं जिनसे पता लग सके कि कवि का तात्पर्य उपमा से है, अन्यथा उक्त त्रिलोपा उपमा सभी स्थानों में बनने लगेगी। उदाहरण लीजिए—

अति अनूप जहँ जनक-निवासू।

यहाँ 'अनूप' शब्द बतला रहा है कि उपमेय की समता के लिये कवि ने उद्योग किया है, पर कोई उपमान नहीं मिला। दूसरा उदाहरण देखिए—

केहरि-कंधर चारु जनेऊ।

यहाँ केवल 'कंधर' उपमेय का ही वर्णन है, और कोई अंग नहीं है।

'केहरि' शब्द को उपमान नहीं मानना चाहिए, क्योंकि 'कंधर' का उपमान 'केहरि-कंधर' होता है। इसलिये 'केहरि' शब्द केवल उपमा का सूचक है।

अनन्वयालंकार

उपमेयहि[1] उपमान जब, कहत अनन्वय ताहि।
तेरे मुख की जोर[2] कौं, तेरो ही मुख आहि ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—जोर = (जोड़) समता। आहि = है।

भावार्थ—जब उपमेय को ही उपमान कहा जाय तो **अनन्वयालंकार** होता है। जैसे, तेरे मुख की समता के लिये (योग्य) तेरा ही मुख है।

सूचना—उपमेय के समान दूसरा उपमान न मिल सकने के कारण ही स्वयं उपमेय को उसका उपमान बना दिया जाता है। 'अनन्वय' शब्द में 'अन्वय' का अर्थ है 'संबंध'। इस अलंकार में 'उपमेय' का संबंध किसी दूसरे से स्थापित नहीं होता।

उपमानोपमेयालंकार

उपमा लागै परसपर, सो उपमानुपमेय।
खंजन हैं तुव नैन-से, तुव दृग खंजन-सेय ॥४७॥

शब्दार्थ –उपमानुपमेय = उपमानोपमेय, उपमेयोपमा। तुव= (तव) तेरे। दृग = नेत्र। सेय = (सदृश) समान।

भावार्थ—जहाँ परस्पर (उपमेय और उपमान में) उपमा लगे (अर्थात् 'उपमेय' का उपमान 'उपमान' हो और 'उपमान' का उपमान 'उपमेय' हो) वहाँ **उपमानोपमेयालंकार** होता है। जैसे, तेरे नेत्रों के समान खंजन (पक्षी) हैं और तेरे नेत्र खंजन के समान हैं।

सूचना—इस अलंकार में उपमेय और उपमान में परस्पर उपमा इसलिये लगती है कि किसी तीसरे समान पदार्थ का अभाव होता है।

१—उपमे ही। २—जोड़।

प्रतीपालंकार

सो प्रतीप उपमेय कों, कीजै जब उपमानु।
लोयन-से अंबुज बने, मुख-सो चंद बखानु ॥४८॥

शब्दार्थ—लोयन = (लोचन) नेत्र । अंबुज = कमल । बने = सुशोभित हैं । बखानु = वर्णन करो ।

भावार्थ—जब उपमेय को उपमान बना दिया जाय (अर्थात् प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बना दिया जाय) तो **(प्रथम) प्रतीपालंकार** होता है । जैसे, कमल नेत्र के समान सुशोभित हैं; चंद्रमा मुख के समान है ।

सम०—यहाँ प्रसिद्ध उपमान 'कमल' और 'चंद्र' उपमेय बना दिए गए हैं अथवा 'नेत्र' और 'मुख' उपमेय उपमान के रूप में वर्णन किए गए हैं ।

सूचना—'प्रतीप' शब्द का अर्थ है उलटा । इसके पाँच भेद होते हैं । ऊपर पहले भेद का उदाहरण और लक्षण दिया गया है ।

उपमेयै[1] को उपमान तें, आदर जवै न होइ ।
गरव करति मुख को कहा, चंदहि नीकैं जोइ ॥४९॥

शब्दार्थ—नीकैं = भलीभाँति । जोइ = देख ।

भावार्थ—जब उपमान के द्वारा उपमेय का आदर न हो तो **(द्वितीय) प्रतीपालंकार** होता है । जैसे, तू अपने मुख का गर्व क्या करती है, (जरा) चंद्रमा को तो (भलीभाँति) देख ले !

सम०—यहाँ 'चंद्रमा' उपमान के द्वारा 'मुख' उपमेय का अनादर किया गया है ।

अनआदर उपमेय तें, जब पावै उपमान ।
तीछन नैन-कटाच्छ तें, मंद काम के बान ॥५०॥

१—उपने ।

शब्दार्थ—अनआदर = अनादर। तीछन = (तीक्ष्ण) तेज, चोखे। मंद = अतीक्ष्ण, कुंद।

भावार्थ—जब उपमेय के द्वारा उपमान को अनादर मिले (उपमेय के द्वारा उपमान का अनादर हो) तो (तृतीय) **प्रतीपालंकार** होता है। जैसे, तीक्ष्ण नेत्र-कटाक्ष से (के समक्ष) कामदेव के बाण कुंद हैं।

सम०—यहाँ 'नेत्र-कटाक्ष' उपमेय के द्वारा 'काम-बाण' उपमान का अनादर किया गया है।

उपमेयै कौं उपमान जब, समता-लायक नाहिं।
अति उत्तम दृग, मीन-से कहे कौन विधि जाहिं ॥५१॥

शब्दार्थ—कौं = के लिये। मीन-से = मछली के समान।

भावार्थ—जब उपमेय की समता के लिये उपमान योग्य न बतलाया जाय तब **(चतुर्थ) प्रतीपालंकार** होता है। जैसे, अत्यंत उत्तम नेत्र मछली के समान किस प्रकार कहे जा सकते हैं?

सम०—यहाँ 'मीन' उपमान 'नेत्र' उपमेय की समता के योग्य नहीं है।

व्यर्थ होय उपमान जब, वर्ननीय लखि सार।
दृग-आगे मृग, कछु न, ये पंच प्रतीप-प्रकार ॥५२॥

शब्दार्थ—बर्ननीय = उपमेय। सार = तत्त्व (यहाँ तत्त्व धारण करनेवाला, समर्थ)।

भावार्थ—जब उपमेय को (उपमान का भी कार्य कर सकने में) समर्थ देखकर उपमान व्यर्थ हो जाय, तब **(पंचम) प्रतीपालंकार** होता है। जैसे, नेत्र के समक्ष मृग (हरिण) कुछ नहीं हैं। (इस तरह) प्रतीपालंकार के पाँच प्रकार हुए।

सम०—'दृग' उपमेय को समर्थ देखकर 'मृग' उपमान 'कछु न' कहकर व्यर्थ बतलाया गया है।

१—उपमे।

सूचना—(१) 'प्रतीप' अलंकार में 'विलोमता' (उलटापन) का तात्पर्य है 'उपमान का तिरस्कार'। जहाँ उपमान उपमेयवत् वर्णन किया जाता है वहाँ भी तात्पर्य उपमान के तिरस्कार का ही होता है।

(२) चौथे प्रतीप का ठीक लक्षण इस प्रकार है—'जहाँ उपमेय और उपमान के बीच दी जानेवाली समता ही असिद्ध ठहराई जाय'। 'भाषा-भूषण' का लक्षण है--उपमान योग्य न हो, 'उपमा' नहीं। यदि लक्षण इस प्रकार होता 'उपमेय की उपमान सों समतै लायक नाहिं' तो ठीक हो जाता। उदाहरण दोनों लक्षणों के अनुसार घट जाता है।

(३) पंचम प्रतीप का सम्यक् लक्षण यों होगा—'जहाँ उपमेय उपमान का भी भार सँभालने में समर्थ हो, इसलिये उपमान की व्यर्थता दिखाई जाय'। ऐसा ही 'चंद्रालोक' में भी कहा गया है—'उपमानस्य कैमर्थ्यमपि मन्वते'। लक्षण छोटा होने के कारण पढ़ने के साथ ही समझ में नहीं आता।

रूपकालंकार

है रूपक द्वै भाँति को, मिलि तद्रूप अभेद।
अधिक न्यून सम दुहुँन के, तीनि-तीनि ये भेद ॥५३॥

शब्दार्थ—मिलि = मिलकर, मिलाने से।

भावार्थ—तद्रूप और अभेद को मिलाकर रूपक के दो प्रकार होते हैं। फिर दोनों (तद्रूप और अभेद) में से प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं—अधिक, न्यून और सम।
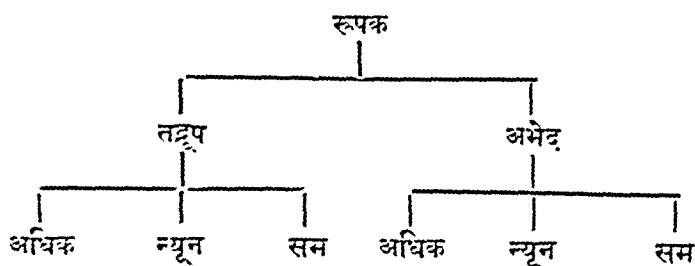
सूचना—'भाषा-भूषण' में लक्षण नहीं दिए गए हैं। नीचे रूपक और उसके प्रथम दो भेदों (तद्रूप और अभेद) का लक्षण दिया जाता है।

रूपक—जहाँ निषेध के बिना उपमेय को उपमान-रूप कहा जाय वहाँ रूपक होता है (यहाँ पर 'निषेध के बिना' इसलिये कहा गया है कि आगे आनेवाले 'अपह्नुति' अलंकार में भी उपमेय को उपमान-रूप कहा जाता है, पर निषेधपूर्वक; जैसे, यह नेत्र नहीं, कमल है)।

'रूपक' शब्द का अर्थ है 'रूप धारण करना'। इस अलंकार में उपमेय उपमान का रूप धारण करता है।

अभेद—जहाँ उपमेय में उपमान का भिन्नता-रहित आरोप हो।

तद्रूप—जहाँ उपमेय को उपमान से भिन्न रखकर भी उसी का रूप और उसी का कार्य करनेवाला कहा जाय।

'तद्रूप' शब्द का अर्थ है 'उसका रूप'। इसमें उपमेय उपमान के रूप कहा जाता है, दोनों में अभिन्नता नहीं रहती।

मुख-ससि वा ससि तें अधिक, उदित-जोति दिन-राति।
सागर तें उपजी न यह, कमला अपर सुहाति ॥५४॥

शब्दार्थ—जोति = प्रकाश, चाँदनी। कमला = लक्ष्मी। अपर = दूसरी।

भावार्थ—(नायिका का) मुख-चंद्र उस चंद्र से अधिक है, क्योंकि इसका प्रकाश रातोदिन फैला रहता है। यह (नायिका) समुद्र से तो नहीं उत्पन्न हुई, पर दूसरी लक्ष्मी (के समान) शोभित है।

सूचना—जब उपमान की अपेक्षा उपमेय में कुछ विशेषता दिखाई जाय तो 'अधिक' रूपक होता है और यदि कुछ कमी दिखाई जाय तो 'न्यून'। जब दोनों समान हों तो 'सम' होता है।

सम०—इस दोहे में दो उदाहरण दिए गए हैं। पहला **अधिक तद्रूप** का है और दूसरा **न्यून तद्रूप** का। पहले उदाहरण में 'मुख-ससि' कहने से 'रूपक' सिद्ध हुआ। 'वा ससि' शब्द से उपमान से भिन्नता भी

लक्षित हुई, इसलिये 'तद्रूप' हुआ। 'उदित-जोति दिन-राति' कहने से 'अधिक' हुआ। दूसरे उदाहरण में 'यह कमला है' कहने से 'रूपक' बना; 'अपर' शब्द से निश्चित हुआ कि यह 'तद्रूप' है और 'सागर तें उपजी न' कहने से 'न्यून' हुआ।

नैन-कमल ए ऐन हैं, और कमल केहिं[1] काम।
गवन करत नीकी लगति, कनकलता यह बाम ॥५५॥

शब्दार्थ—ऐन = ठीक। गवन = (गमन) चलना। नीकी = भली। कनकलता = स्वर्णलता। बाम = स्त्री।

भावार्थ—(इस नायिका के) ये नेत्र-कमल ही ठीक हैं, और कमल किस काम के हैं? (किसी काम के नहीं)। यह नायिका-रूपी स्वर्णलता चलती हुई भली जान पड़ती है।

सम०—इस दोहे में पहला उदाहरण **सम तद्रूप** का है और दूसरा **अधिक अभेद** का। 'नैन-कमल' से 'रूपक', 'और कमल' से 'तद्रूप' और 'ऐन है' से 'सम' सिद्ध है। इसी प्रकार 'कनकलता यह बाम' से 'अभेद रूपक' और 'गवन करत' से 'अधिक' सिद्ध होता है।

अति सोभित विद्रुम-अधर, नहिं समुद्र-उत्पन्न।
तुव मुख-पंकज विमल-अति, सरस सुवास प्रसन्न ॥५६॥

शब्दार्थ—विद्रुम = मूँगा। अधर = ओंठ। पंकज = कमल। सरस = रसयुक्त, रसीला। सुवास = सुगंधित।

भावार्थ—(नायिका के) ओंठ-रूपी मूँगे अत्यंत सुशोभित हैं, पर ये समुद्र से उत्पन्न नहीं हैं। तुम्हारा मुख-कमल अत्यंत निर्मल, सरस, सुगंधित और प्रसन्न है।

सम०—इसमें **न्यून अभेद** और **सम अभेद** के उदाहरण दिए गए हैं। पहले उदाहरण में 'विद्रुम-अधर' से 'अभेद रूपक' और 'नहिं

१—किहिं।

समुद्र-उत्पन्न' से 'न्यून' सिद्ध है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में उपमेय और उपमान एक कर दिए गए हैं, उनमें कोई अधिकता या न्यूनता नहीं दिखाई गई है, इससे 'सम' है।

सूचना—आचार्यों ने 'सम अभेद' के आगे और भेद भी किए हैं और उनके उपभेद भी किए गए हैं। नीचे के वृक्ष से 'रूपक' के समस्त भेदों का ज्ञान हो जायगा।
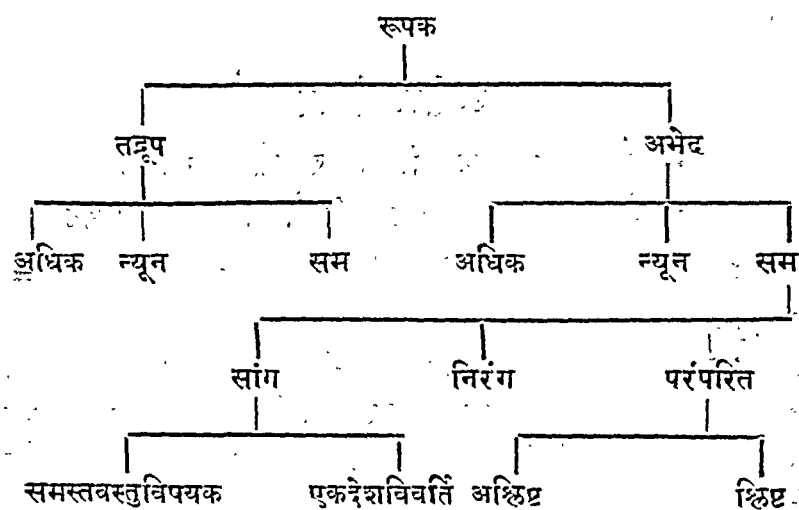
परिणामालंकार

करै क्रिया उपमान ह्वै वर्ननीय, परिनाम।
लोचन-कंज बिसाल तें, देखति देखौ वाम॥ ५७॥

शब्दार्थ—वर्ननीय = जिसका वर्णन किया जाता है, उपमेय। वाम = स्त्री (नायिका)।

भावार्थ—जब उपमान (स्वयं किसी कार्य के करने में समर्थ न होने के कारण) उपमेय (के साथ) होकर (उस) कार्य (को) करे

तो परिणामालंकार होता है। जैसे, देखो वह नायिका विशाल नेत्र-कमलों से देखती है।

सम०—इस उदाहरण में कमल (कंज) उपमान देखने की क्रिया करने में असमर्थ है, पर नेत्र (लोचन) उपमेय के साथ वह उक्त क्रिया करने में समर्थ हुआ है।

सूचना—'परिणाम' शब्द का अर्थ है 'स्वभाव का परिवर्तन'। यहाँ उपमान का स्वभाव बदल जाता है।

उल्लेखालंकार

सो उल्लेख जु एक कों, बहु समुझैं बहु रीति।
अर्थिन सुरतरु, तिय मदन, अरि कौं काल-प्रतीति ॥५८॥

शब्दार्थ—अर्थिन = याचकों के लिये। मदन = कामदेव। अरि = शत्रु। प्रतीति = ज्ञान, विश्वास।

भावार्थ—जब एक व्यक्ति को बहुत-से व्यक्ति बहुत प्रकार से समझें (अथवा वर्णन करें) तब (प्रथम) उल्लेखालंकार होता है। जैसे, वह (कोई राजा) याचकों के लिये कल्पवृक्ष, स्त्रियों के लिये कामदेव और शत्रु के लिये काल के समान प्रतीत होता है।

सम०—इस उदाहरण में याचक (अर्थी), स्त्री (नायिका) और शत्रु बहुत-से व्यक्ति एक ही व्यक्ति (राजा) को कल्पवृक्ष आदि बहुत प्रकार से समझ रहे हैं।

बहु विधि बरनै एक कों, बहु गुन सों उल्लेख।
कीरति[1] अर्जुन, तेज रवि, सुरगुरु वचन-बिसेष ॥५९॥

शब्दार्थ—कीरति = (कीर्ति) यश। सुरगुरु = बृहस्पति। वचन-बिसेष = वचनों की विशेषता में।

१—तू रन।

भावार्थ—जब (एक ही व्यक्ति के द्वारा) एक व्यक्ति का बहुत-से गुणों के कारण बहुत प्रकार से वर्णन हो तो (द्वितीय) **उल्लेखालंकार** होता है। जैसे, वह (राजा) कीर्ति में अर्जुन, तेज में सूर्य और वचनों की विशेषता (वाक्पटुता) में बृहस्पति है।

सम०—यहाँ (एक ही व्यक्ति कवि के द्वारा) एक व्यक्ति (राजा) का 'कीर्ति' आदि गुणों के कारण 'अर्जुन' आदि के रूप में बहुत प्रकार से वर्णन हो रहा है।

सूचना--'उल्लेख' शब्द का अर्थ है 'उत्कृष्ट वर्णन'। यहाँ वर्णनीय का उत्कृष्ट वर्णन होता है।

स्मरण-भ्रम-संदेहालंकार

सुमिरन, भ्रम, संदेह ये, लच्छन नाम प्रकास।
सुधि आवति वा बदन की, देखें सुधा-निवास ॥६०॥

शब्दार्थ—सुमिरन = स्मरण। बदन = मुख। सुधा-निवास = चंद्रमा।

भावार्थ—स्मरण (स्मृति), भ्रम (भ्रांतिमान्) और संदेह अलंकारों के लक्षण इनके नाम से ही प्रकाशित हो जाते हैं। जैसे, (स्मरणालंकार का उदाहरण) चंद्रमा के देखने से उस (प्रिय व्यक्ति) के मुख की सुध आती है।

सूचना—जहाँ सदृश वस्तु (उपमान) के देखने से सदृश वस्तु (उपमेय) का स्मरण हो आवे वहाँ **स्मरणालंकार** होता है। जहाँ उपमेय में अत्यंत साम्य के कारण उपमान का निश्चित भ्रम हो जाय वहाँ **भ्रांतिमान्** (भ्रम) अलंकार होता है। जहाँ उपमेय को देखकर यह तर्क उठे कि यह उपमेय है अथवा उपमान अथवा और कुछ, वहाँ **संदेहालंकार** होता है।

सम०—यहाँ (स्मरणालंकार के उदाहरण में) सदृश वस्तु (उपमान) चंद्रमा को देखकर मुख (उपमेय) का स्मरण हो आया है।

वदन सुधानिधि जानि यह, तुव सँग फिरत चकोर ।
वदन किधौं यह सीतकर, किधौं कमल भए भोर ॥६१॥

शब्दार्थ—सुधानिधि = चंद्रमा । किधौं = अथवा । सीतकर = चंद्रमा । भए भोर = प्रातःकाल होने पर ।

भावार्थ—तेरे मुख को चंद्रमा समझकर यह चकोर तेरे साथ-साथ घूमता फिरता है (—भ्रमालंकार)। यह मुख है या चंद्रमा है या प्रातः-काल (होने पर खिला हुआ) कमल है ? (—संदेहालंकार) ।

सम०—यहाँ (पहले उदाहरण में) मुख (वदन) उपमेय में चकोर को चंद्रमा (सुधानिधि) उपमान का निश्चित भ्रम है (वह मुख को चंद्रमा ही समझता है) । (दूसरे उदाहरण में) यह निश्चित नहीं है कि यह मुख है या चंद्रमा (सीतकर) या कमल ।

सूचना—'भ्रमालंकार' में भ्रम निश्चित होता है और 'संदेह' में निश्चय नहीं रहता, यही दोनों में भेद है । चकोर मुख को चंद्रमा ही समझ रहा है, पर दूसरे उदाहरण में यह पता ही नहीं है कि यह क्या है—मुख है या चंद्रमा या कमल ?

अपह्नुति अलंकार

धरम दुरै आरोप तें, सुद्धापन्हुति जानि ।
उर पर नाहिं उरोज ये, कनकलता-फल मानि ॥६२॥

शब्दार्थ धरम = (धर्म) उपमेय । दुरै = छिपा ले (निषेध कर दे) । आरोप = उपमेय पर उपमान की स्थापना (जैसे, 'मुख-चंद्र' रूपक में 'मुख' पर 'चंद्र' की स्थापना है) । उरोज = स्तन । कनकलता = स्वर्णलता (नायिका) ।

भावार्थ—जब आरोप में से धर्म (उपमेय) को छिपा लिया (निषेध कर दिया) जाय तो शुद्धापह्नुति होती है । जैसे, उर (वक्षःस्थल) पर ये स्तन नहीं हैं, सुवर्णलता के फल हैं ।

सम०—यहाँ 'उरोज' उपमेय पर होनेवाले उपमान (कनकलता-फल) के आरोप में से उपमेय को छिपाया (निषेध किया) गया है।

सूचना—'अपह्नुति' का अर्थ है 'छिपाना'। इस अलंकार में उपमेय को छिपाया जाता है, उसका निषेध किया जाता है।

> वस्तु दुराएँ[1] जुक्ति सों, हेतु-अपन्हुति होय।
> तीव्र चंद नहिं रैनि रबि, वड़वानल ही जोय ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ—दुराएँ = छिपाने से। तीव्र = तेज, तीक्ष्ण। रैनि = (रजनी) रात में। जोय = देखो।

भावार्थ—जब वस्तु (उपमेय) को युक्ति से (कारण देकर) छिपाया (निषेध किया) जाय तो **हेत्वपह्नुति** होती है। जैसे, (कोई विरही चंद्र को देखकर कहता है कि) चंद्रमा तीव्र नहीं लगता और सूर्य रात्रि में नहीं होता, इसलिये यह वड़वानल (समुद्र में रहनेवाली आग) ही है।

सम०—यहाँ 'चंद्र' को वड़वानल कहने में कारण भी बतलाया गया है कि चंद्रमा तीव्र नहीं होता और न रात में सूर्य ही होता है (वड़वा-नल होने से ही यह ताप दे रहा है)।

> पर्यस्त जु गुन एक को, और विषै आरोप।
> होइ सुधाधर नाहिं यह, बदन सुधाधर-ओप ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ—विषै = (विषय) में। ओप = चमक।

भावार्थ—जब एक के गुण (धर्म) का आरोप दूसरे में किया जाय (उपमान के गुण का आरोप उपमेय में हो) तो **पर्यस्तापह्नुति** होती है। जैसे, यह सुधाधर (चंद्रमा) सुधाधर नहीं है, मुख में ही उसकी चमक है।

सम०—यहाँ चंद्रमा (उपमान) के गुण 'सुधाधरत्व' (को वहाँ से हटाकर उस) का आरोप मुख पर किया गया है।

सूचना—'पर्यस्त' का अर्थ है 'फेंका हुआ'। इस 'अपह्नुति' में एक

१–दुरावै।

वस्तु का गुण दूसरे पर फेंका (आरोप किया) जाता है। इसलिये जिस शब्द से गुण (धर्म) सूचित होता है उसका नाम दो बार आता है (जैसे, उक्त उदाहरण में 'सुधाधर')।

भ्रांति-अपन्हुति वचन सों, भ्रम जब पर को जाय।
ताप करत है ज्वर कहो, ना[1] सखि मदन सतायँ[2] ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ—पर = दूसरा (उपमान)। ताप करना = दुःख देना। मदन = कामदेव। सताय = सताता है।

भावार्थ—जब किसी बात से (उपमेय में) किसी दूसरे (उपमान) का होनेवाला भ्रम दूर कर दिया जाय तो उसे **भ्रांतापह्नुति** कहते हैं। जैसे, (नायिका ने कहा कि) ताप करता है। (इसपर सखी पूछती है) क्या ज्वर है? (नायिका उत्तर देती है) नहीं, काम सता रहा है (इसी से संताप है)।

सम०—यहाँ काम-पीड़ा से उत्पन्न ताप (उपमेय) में साधारण ज्वर (उपमान) की भ्रांति हो गई थी, जिसका निवारण किया गया है।

छेकापन्हुति जुक्ति करि, पर सों बात दुराय।
करत अधर छत, पिय ?, नहीं सखी सीत-रितु-बाय ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ—पर = दूसरा (व्यक्ति)। दुराय = (दुराई जाय) छिपाई जाय। अधर = ओंठ। छत = (क्षत) घाव। पिय = (प्रिय) पति। सीत-रितु = शरद् ऋतु। बाय = (वायु) हवा।

भावार्थ—जहाँ युक्तिपूर्वक किसी दूसरे व्यक्ति से अपनी बात छिपाई जाय, वहाँ **छेकापह्नुति** होती है। जैसे, (नायिका ने सखी से कहा कि) वह ओंठ में घाव कर देता है। (सखी ने कहा कि क्या) प्रिय (पति) ? (तब नायिका इस बात को छिपाकर युक्तिपूर्वक कहती है) नहीं सखी, शरद् ऋतु की वायु।

१—नहीं। २—सखी मदन-तप आय।

सम०—यहाँ नायिका ने पति द्वारा किए जानेवाले दंत-क्षत को अपनी सखी से युक्तिपूर्वक छिपाया है (उसका कारण शरद् ऋतु की वायु बतलाकर)।

सूचना—'छेक' शब्द का अर्थ है चतुराई। 'मुकरियाँ' इसी अलंकार में कही जाती हैं। जैसे, अमीर खुसरो की मुकरियाँ। एक उदाहरण लीजिए—

टट्टी तोड़ के घर में आया। अर्तन-बर्तन सब खिसकाया।
खा गया पी गया दे गया बुत्ता। क्यों सखि साजन ? ना सखि कुत्ता।

कैतवपन्हुति एक कों, मिसु करि बरनत आन।
तीछन तीय-कटाच्छ-मिसु, बरषत मन्मथ बान ॥६७॥

शब्दार्थ—मिसु = बहाना। मिसु करि = बहाना करके (निषेध करके)। आन = अन्य (उपमान)। मन्मथ = कामदेव।

भावार्थ—जहाँ एक (उपमेय) के मिस (बहाने) से अन्य (उपमान) का वर्णन किया जाय वहाँ **कैतवापह्नुति** होती है। जैसे, स्त्री (नायिका) के तीक्ष्ण कटाक्षों के बहाने से कामदेव अपने बाणों की वर्षा कर रहा है (अर्थात् ये स्त्री के कटाक्ष नहीं हैं, कामदेव के बाण हैं)।

सम०—यहाँ नायिका के कटाक्ष (उपमेय) के बहाने से कामदेव के बाण (उपमान) का वर्णन किया गया है।

सूचना—'अपह्नुति' अलंकार में निषेध आवश्यक है। इसको प्रकट करने के लिये 'न, नहीं' आदि वाचक शब्दों का प्रयोग होता है। पिछले पाँच भेदों में बराबर 'न' का प्रयोग हुआ है, पर 'कैतवापह्नुति' में सीधे 'न' आदि वाचकों का प्रयोग नहीं होता, उनके स्थान पर 'मिस, व्याज, कैतव, छल' आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। निषेध यहाँ भी रहता ही है। इसीलिये 'कैतवापह्नुति' को 'आर्थी अपह्नुति' भी कहते हैं, क्योंकि इसमें निषेध का ज्ञान अर्थ द्वारा होता है।

उत्प्रेक्षालंकार

उत्प्रेक्षा संभावना, वस्तु, हेतु, फल लेखि।
नैन मनो अरबिंद हैं, सरस बिसाल बिसेखि ॥६८॥

शब्दार्थ—लेखि = समझो। अरविंद = कमल। बिसेषि = विशेषता-पूर्वक, अत्यंत।

भावार्थ—(उपमेय में उपमान की की जानेवाली) संभावना को **उत्प्रेक्षा** कहते हैं। (इसके तीन भेद होते हैं) वस्तु, हेतु और फल। (वस्तूत्प्रेक्षा का उदाहरण) जैसे, ये अत्यंत सरस और विशाल नेत्र मानो कमल हैं।

सूचना—'उत्प्रेक्षा' शब्द का अर्थ है—(उत् + प्र + ईक्षा) भली भाँति देखना। इस अलंकार में उपमेय को उपमान के रूप में संभावित समझते हैं, यही भलीभाँति देखना है। **वस्तूत्प्रेक्षा** में उत्प्रेक्षा करने का विषय (वस्तु) कहकर तब उसपर संभावना करते हैं। **हेतूत्प्रेक्षा** में अहेतु (किसी वस्तु में संभावना करने के लिये जो हेतु नहीं है उस) को हेतु मानकर उत्प्रेक्षा की जाती है। इसी प्रकार **फलोत्प्रेक्षा** में अफल (किसी वस्तु में संभावना करने का जो अभिप्राय नहीं है उस) को फल मानकर संभावना की जाती है।

सम०—यहाँ (वस्तूत्प्रेक्षा के उदाहरण में) अत्यंत सरस और विशाल नेत्र उत्प्रेक्षा के विषय (वस्तु या उपमेय) हैं, उनमें कमलों की संभावना की गई है।

मनो चली आँगन कठिन, तातें राते पाय।
तुव पद-समता कौं कमल, जल सेवत इक पाय[1] ॥६९॥

शब्दार्थ—राते = (रक्त) लाल। कौं = के लिये।

१—भाय।

भावार्थ—(हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण) मानो वह (नायिका) कठिन आँगन में चली है इसीसे उसके पैर लाल हो गए हैं। (फलोत्प्रेक्षा का उदाहरण) मानो तेरे चरणों की समता (बराबरी) के लिये कमल एक पैर से खड़ा होकर जल की सेवा किया करता है (तप करता है)।

सम०—(हेतूत्प्रेक्षा के उदाहरण में) नायिका के पैर में ललाई स्वाभाविक होती है, कठोर आँगन में चलना उसका कारण नहीं है; पर उसे ही कारण माना गया है। (फलोत्प्रेक्षा के उदाहरण में) कमल का एक पैर से (कमल-नाल पर) जल में खड़ा रहना नायिका के चरणों की समता के अभिप्राय (इच्छा) से नहीं होता, पर इसे ही 'फल' माना गया है।

सूचना—हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में अंतर समझने के लिये दोनों की क्रियाओं पर विचार करना चाहिए। यदि क्रिया में केवल हेतु का कथन हो तो हेतूत्प्रेक्षा और यदि किसी इच्छा का वर्णन हो तो फलोत्प्रेक्षा होगी।

अलंकार-ग्रंथों में वस्तूत्प्रेक्षा के दो और भेद किए गए हैं—उक्तविषया और अनुक्तविषया। हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा के भी दो-दो भेद हुए हैं—सिद्धास्पदा और असिद्धास्पदा।

अतिशयोक्ति अलंकार

अतिसयोक्ति-रूपक जहाँ, केवल ही उपमान।
कनकलता पर चंद्रमा, धरे धनुष द्वै बान॥ ७०॥

शब्दार्थ—कनकलता = सुवर्णलता (नायिका का शरीर)।

भावार्थ—जहाँ केवल उपमान ही हो (और उसी के द्वारा उपमेय का लक्ष्य कराया जाय) वहाँ **रूपकातिशयोक्ति** होती है। जैसे, सुवर्ण-लता (नायिका) पर चंद्रमा (मुख) है (और उसके ऊपर) धनुष (भौंहें) और दो बाण (कटाक्ष) रखे हैं।

सम०—यहाँ 'सुवर्णलता' आदि केवल उपमानों से ही 'नायिका' आदि उपमेयों का लक्ष्य होता है।

सूचना—'अतिशयोक्ति' शब्द का अर्थ है 'लोकोत्तर उक्ति' अर्थात् ऐसा वर्णन जो संसार की सामान्य बातों का उल्लंघन कर गया हो। 'रूपकातिशयोक्ति' में रूपक का अर्थ है रूप का आरोप। इसमें उपमान में उपमेय निगीर्ण रहता है (उपमान उपमेय को निगले रहता है)। स्मरण रहे कि रूपकातिशयोक्ति में प्रसिद्ध उपमानों द्वारा ही उपमेय का लक्ष्य होना चाहिए।

सापन्हव गुन एक कों, औरहिं पर ठहराय।
सुधा-भर्यौ यह वदन तुव, चंद कहैं बौराइ॥ ७१॥

शब्दार्थ—सापन्हव = अपह्नुति से युक्त। बौराइ = भूलकर, पागलपन से।

भावार्थ—जहाँ एक (उपमान) के गुण को किसी और (उपमेय) में स्थापित किया जाय (और वह भी) सापन्हव हो (निषेधयुक्त हो) तो वहाँ **'सापह्नवातिशयोक्ति'** होती है। जैसे, तेरा यह मुख अमृत से भरा है, जो लोग चंद्र को अमृत से भरा कहते हैं वे भूल करते हैं।

सम०—यहाँ चंद्रमा (उपमान) के गुण (सुधा) की स्थापना मुख (उपमेय) में हुई है और यह आरोप निषेधपूर्वक है (जो लोग सुधा को चंद्र में खोजते हैं वे भूल करते हैं अर्थात् चंद्र में अमृत नहीं है, मुख में है)।

१—के।

अतिसयोक्ति-भेदक वहै, जो अति भेद दिखात ।
औरै हँसिबो देखिबो, औरै या की बात ॥७२॥

भावार्थ—जहाँ किसी वस्तु का (उस जाति की अन्य वस्तुओं से) अत्यंत भेद दिखाया जाय वहाँ **भेदकातिशयोक्ति** होती है। जैसे, उसका हँसना, देखना और उसकी बातें और ही हैं (अर्थात् वैसा हँसना, देखना और बोलना अन्यत्र नहीं पाया जाता) ।

सम०—यहाँ 'हँसना' आदि का तज्जातीय अन्य पदार्थों से अत्यंत भेद दिखाया गया है ।

सूचना—'भेदक' शब्द का अर्थ है भेद करनेवाला ।

संबंधातिसयोक्ति जहँ, देत अजोगहि जोग ।
या पुर के मंदिर कहैं, ससि लौं ऊँचे लोग ॥७३॥

शब्दार्थ—जोग = योग्यता । ससि लौं = चंद्रमा तक ।

भावार्थ—जहाँ अयोग्य (पदार्थ) में योग्यता दिखाई जाय वहाँ संबंधातिशयोक्ति होती है। जैसे, लोग कहते हैं कि इस नगर के मंदिर (मकान) चंद्रमा तक ऊँचे हैं ।

सम०—यहाँ 'मंदिर' चंद्रमा तक की ऊँचाई के अयोग्य हैं, फिर भी वे उतने ऊँचे कहे गए हैं ।

अतिसयोक्ति दूजी वहै, जोग अजोग-बखान ।
तो कर आगे कलपतरु, क्यों पावै सनमान ॥७४॥

शब्दार्थ—तो = (तव) तेरे ।

भावार्थ—दूसरी (संबंध) **अतिशयोक्ति** वह है जहाँ योग्य पदार्थ अयोग्य कहा जाय। जैसे, (हे राजा[1]) तेरे हाथों के समक्ष कल्पवृक्ष कैसे संमान पा सकता है ?

१—सबै यहि विधि बरनत जात ।

सम०—कल्पवृक्ष संमान पाने के योग्य है, पर वह यहाँ पर अयोग्य ठहराया गया है।

सूचना—इस अतिशयोक्ति का नाम **असंबंधातिशयोक्ति** है। भाषा-भूषणकार ने इसे भी संबंधातिशयोक्ति का ही एक प्रकार मान लिया है।

अतिसयोक्ति-अक्रम जबै, कारज-कारन संग।
तो सर लागत साथ ही, धनुषहिं अरु अरि-अंग॥ ७५॥

शब्दार्थ—तो = तव। अरि = शत्रु। अंग = शरीर।

भावार्थ—जहाँ कार्य और कारण का वर्णन साथ ही किया जाय वहाँ **अक्रमातिशयोक्ति** होती है। जैसे, तेरे वाण धनुष और शत्रु के शरीर में साथ ही लगते हैं।

सम०—यहाँ धनुष पर वाण चढ़ाना कारण और शत्रु के अंग में लगना कार्य दोनों साथ ही वर्णित हुए हैं।

सूचना—'अक्रम' का अर्थ है 'क्रमहीन'। इस अलंकार में कार्य और कारण का उचित क्रम नहीं रहता। क्योंकि दोनों साथ ही कहे जाते हैं। (आगे-पीछे नहीं)।

चपलात्युक्ति जु हेतु के, होत नाम ही काज[1]।
कंगन ही भइ मूँदरी, पीय-गवन सुनि आज॥ ७६॥

शब्दार्थ—नाम ही = नाम लेने से ही। कंगन = (कंकण)।

भावार्थ—जहाँ कारण का नाम लेने से ही कार्य हो जाता है, वहाँ **चपलातिशयोक्ति** होती है। जैसे, आज प्रिय (पति) का गमन सुन-कर मुद्रिका कंकण हो गई (अर्थात् नायिका इतनी दुबली हो गई कि उसकी कलाई में मुँदरी कंकण की तरह अँटने लगी)।

सम०—यहाँ प्रिय के गमन (कारण) का नाम सुनते ही दुर्वल होना कार्य हो गया है।

१—सों होत सीघ्र जो काजु।

सूचना—'चपला' का अर्थ है 'बिजली'। इस अलंकार में कारण के नाम से ही बिजली की भाँति अति शीघ्र कार्य का हो जाना भी कहा जाता है।

अत्यंतातिसयोक्ति सो, पुरबापर क्रम नाहिं।
बान न पहुँचै अंग लौं, अरि पहिलै गिरि जाहिं ॥ ७७ ॥

शब्दार्थ--पुरबापर = (पूर्वापर) पहले और पीछे का।

भावार्थ--जहाँ (कारण और कार्य का) पूर्वापर क्रम न रहे वहाँ अत्यंतातिशयोक्ति होती है। जैसे, तेरे वाण शत्रु के शरीर तक नहीं पहुँच पाते, इसके पहले ही वे (शत्रु) गिर पड़ते हैं।

सम०—यहाँ शरीर में वाण का लगना कारण और 'गिरना' कार्य है। 'गिरना' कार्य कारण से पहले ही हो गया है, यही पूर्वापर क्रम का भंग होना है।

तुल्ययोगितालंकार

तुल्ययोगिता तीनि ये, लच्छन क्रम तें जानि।
एक सब्द मैं हित-अहित, बहु मैं एकै बानि ॥७८॥

शब्दार्थ—बानि = स्वभाव (धर्म)।

भावार्थ—**तुल्ययोगिता** तीन प्रकार की होती है। उसके लक्षण क्रम से जानो। **पहली तुल्ययोगिता** वह है जहाँ हित (मित्र) और अहित (शत्रु) दोनों एक शब्द में हों (अर्थात् दोनों के साथ समान व्यवहार किया जाय)। **दूसरी तुल्ययोगिता** वह है जहाँ बहुतों (उपमेय या वर्ण्य और उपमान या अवर्ण्य) में एक ही स्वभाव (धर्म) दिखाया जाय।

बहु सों समता गुननि करि, इहि बिधि भिन्न प्रकार।
गुननिधि नीकैं देत तू, तिय कों अरि कों हार ॥७९॥

शब्दार्थ—गुननिधि = गुण का खजाना (नायक)। नीकैं = भली भाँति। हार = माला, पराजय।

भावार्थ—वह **तीसरी तुल्यायोगिता** है जहाँ गुणों के कारण एक व्यक्ति की समता बहुतों से हो (अर्थात् बहुत-से पदार्थों के उत्कृष्ट गुण लाकर एक ही पदार्थ में एकत्र कर दिए जायँ)। (पहली तुल्ययोगिता का उदाहरण) हे गुणनिधि, तू स्त्री (नायिका) और शत्रु को भलीभाँति (बड़ी खूबी के साथ) हार देता है।

सम०—यहाँ (उदाहरण में) नायक अपने मित्र (तिय) और शत्रु के साथ एक ही व्यवहार करता है (दोनों को 'हार' देता है)।

नवलवधू की वदन-द्युति, अरु सकुचित अरबिंद।
तुहीं सिरीनिधि[1] धर्मनिधि, तुहीं इंद्र अरु इंद[2] ॥८०॥

शब्दार्थ—नवलवधू = नई बहू। सिरीनिधि = (श्रीनिधि) कुबेर। धर्मनिधि = धर्मराज (युधिष्ठिर)।

भावार्थ—(दूसरी तुल्ययोगिता का उदाहरण) नवलवधू के मुख की शोभा और कमल दोनों संकुचित हो रहे हैं। (तीसरी का उदा०—हे राजन्!) तुम्हीं (मेरे लिये) कुबेर, युधिष्ठिर, इंद्र और चंद्र हो।

सम०—(पहले उदाहरण में) नवलवधू के मुख और अरविंद दो का एक ही धर्म 'सकुचना' कहा गया है। (दूसरे उदाहरण में) एक ही राजा में 'कुबेर' आदि बहुतों के गुण एकत्र किए गए हैं अथवा समता दिखाई गई है।

दीपकालंकार

सो दीपक निज गुननि सों, वर्न्य[3] इतर इक भाय।
गज मद सों नृप तेज सों, सोभा लहत बनाय ॥ ८१ ॥

शब्दार्थ—वर्न्य = उपमेय। इतर = और, अवर्ण्य, उपमान। इक-भाय = एक भाव (एक से)। बनाय = भलीभाँति।

भावार्थ—जहाँ वर्ण्य और अवर्ण्य अपने गुण (धर्म) के कारण एक-

१—तू ही श्रीनिधि। २—चंद। ३—वरनि।

से कहे जायँ (दोनों में धर्मैकता हो) वहाँ **दीपक** होता है। जैसे, हाथी मद से और राजा तेज से अत्यंत शोभा पाता है।

सम०—यहाँ 'नृप' वर्ण्य और 'गज' अवर्ण्य है। दोनों का एक ही धर्म 'शोभा लहत बनाय' कहा गया है।

दीपकावृत्ति अलंकार

दीपक-आवृति तीनि बिधि, आवृति पद की होय।
पुनि है आवृति अर्थ की, दुजैं[1] कहिए सोय ॥८२॥

शब्दार्थ—आवृति = दूसरी बार आना।

भावार्थ—**आवृत्ति-दीपक** तीन प्रकार का होता है। **पहले** में केवल पद (शब्द) की आवृत्ति होती है (अर्थ की नहीं) और **दूसरे** में अर्थ की आवृत्ति होती है (शब्द की नहीं)।

पद अरु अर्थ दुहून की, आवृति तीजैं[2] लेखि।
घन बरषै है री सखी, निसि बरषै है देखि ॥८३॥

शब्दार्थ—बरषै है = बरसता है। बरषै = वर्ष ही। देखि = देखो।

भावार्थ—जहाँ पद और अर्थ दोनों की आवृत्ति हो वहाँ **तीसरा** भेद होता है। (**पदावृत्ति** का उदाहरण) हे सखी, देख बादल बरस रहा है और रात्रि वर्ष होती जाती है (रात्रि शीघ्र व्यतीत ही नहीं होती)।

सम०—यहाँ 'बरषै है' पद की आवृत्ति हुई है (अर्थ भिन्न है)।

फूले बृच्छ कदंब के, केतक बिकसे आहि।
मत्त भए हैं मोर अरु, चातक मत्त सराहि ॥८४॥

शब्दार्थ—केतक = केवड़ा। सराहि = सराहो, प्रशंसा करो।

भावार्थ—कदंब के वृक्ष फूले हैं और केवड़ा भी विकसित है। मोर मतवाले हो गए हैं, चातक भी मतवाला है, उसकी प्रशंसा ही करनी पड़ती है।

१—दूजी। २—तीजी।

सम०—यहाँ (पहले उदाहरण में) 'फूले' और 'विकसे' दो शब्दों का प्रयोग हुआ है, पर दोनों का एक ही अर्थ है। यह **अर्थावृत्तिदीपक** है। दूसरे उदाहरण में दोनों स्थानों पर 'मत्त' शब्द का एक ही अर्थ है। यह **पदार्थावृत्ति** है।

प्रतिवस्तूपमालंकार

प्रतिवस्तूपम समझिए, दोऊ वाक्य समान।
आभा सूर प्रताप तें, सोभा सूर कमान[१] ॥८५॥

शब्दार्थ—आभा = शोभा। सूर = सूर्य। प्रताप = ऊष्णता, गर्मी, तपन। सूर = वीर। कमान = धनुष।

भावार्थ—जहाँ दोनों वाक्य (उपमेय-वाक्य और उपमान-वाक्य) समान हों (दोनों का एक ही धर्म पृथक्-पृथक् शब्दों से कहा जाय) वहाँ **प्रतिवस्तूपमा** होती है। सूर्य की शोभा प्रताप से है और वीर की शोभा धनुष से है।

सम०—यहाँ 'आभा सूर प्रताप तें' उपमान-वाक्य है और 'सोभा सूर कमान' उपमेय-वाक्य। इन दोनों का एक ही धर्म भिन्न-भिन्न शब्दों (आभा और शोभा) द्वारा कहा गया है।

सूचना—'प्रतिवस्तूपमा' शब्द का अर्थ है 'वस्तु-प्रतिवस्तु की उपमा'। वस्तु का अर्थ है 'वाक्यार्थ'। यहाँ दो वाक्यार्थों के बीच उपमा दी जाती है।

दृष्टांतालंकार

अलंकार-दृष्टांत सो, लच्छन नाम-प्रमान।
कांतिमान ससि ही बन्यो, तू ही कीरतिमान ॥८६॥

शब्दार्थ—कांतिमान = शोभायुक्त।

भावार्थ—**दृष्टांत** अलंकार के लक्षण में उसका नाम (दृष्टांत) ही प्रमाण है (जहाँ उपमेय-वाक्य और उपमान-वाक्य तथा उनके धर्मों में

१—सोभा सूर-प्रताप वर, सोभा सूरहि बान।

बिंब-प्रतिबिंब भाव हो वहाँ **दृष्टांत** होता है)। जैसे, तू (उसी प्रकार) कीर्तिमान है, (जिस प्रकार) चंद्रमा कांतिमान है।

सम०—यहाँ उपमेय-वाक्य में 'कीर्तिमान' शब्द है और उपमान वाक्य में 'कांतिमान'। ये दोनों शब्द बिंब-प्रतिबिंबवत् हैं (एक ही नहीं)।

सूचना—दृष्टांत में धर्म एक ही नहीं होता, समान होता है। प्रति-वस्तूपमा में धर्म एक ही होता है। केवल पुनरुक्ति से बचाव करने के लिये दोनों धर्मों को पर्यायवाची शब्द से प्रकट करते हैं।

'दृष्टांत' शब्द का अर्थ है अंत अर्थात् निश्चय देख लिया गया हो जिसमें। यहाँ दो वाक्यों में से जिस वाक्य के लिये कोई उदाहरण सामने रखा जाता है उस वाक्य का निश्चय दूसरे वाक्य (उपमान-वाक्य) से करते हैं।

निदर्शनालंकार

कहिए त्रिविधि निदर्सना, वाक्य-अर्थ सम दोय।
एक विषैं[1] पुनि और गुन, और वस्तु मैं होय ॥८७॥

शब्दार्थ—विषैं =(विषय) में।

भावार्थ—**निदर्शना** तीन प्रकार की होती है। **पहली** में दो समान वाक्यार्थों का एक में आरोप होता है। **दूसरी** में एक वस्तु (उपमेय या उपमान) में होनेवाले गुण का दूसरी वस्तु (उपमान या उपमेय) में होना दिखाया जाता है।

कहिए कारज देखि कछु, भलो-बुरो फल-भाव।
दाता सौम्य सुअंक बिनु, पूरनचंद-बनाव ॥८८॥

शब्दार्थ—सौम्य = कोमल, उदार। अंक = चिह्न, कलंक। बनाव = सजावट।

भावार्थ—**तीसरी** (निदर्शना) में किसी पदार्थ की क्रिया से भले

१—किए।

या बुरे फल का ज्ञान होना कहा जाता है। (पहली का उदाहरण) दानी का सौम्य (कोमल) होना वैसा ही है, जैसे बिना कलंक के पूर्णचंद्र का होना।

सम०--यहाँ (उदाहरण में) 'सौम्य दाता' और 'निष्कलंक चंद्र' दो सदृश वाक्यार्थ हैं इनका एक ही में आरोप हुआ है।

सूचना--'निदर्शना' का अर्थ है नि अर्थात् विन्यास, रचना उसका दिखाना। इसके 'वाचक' 'जो सो' हैं।

देखौ सहजहि धरत ये, खंजन-लीला नैंन।
तेजस्वी सों निवल-बल, महादेव अरु मैन ॥८९॥

शब्दार्थ--सहजहि = स्वभावतः। लीला = खेल (चांचलता)। मैन = (मदन) कामदेव।

भावार्थ--(द्वितीय का उदा०) तुम्हारे ये नेत्र स्वभावतः देखो खंजन की शोभा धारण करते हैं। (तीसरी का उदा०) महादेव और कामदेव (वाली घटना) से जान पड़ता है कि तेजस्वी (महादेव) के सामने निर्बल (काम) का बल (शक्ति) कुछ नहीं है।

सम०--पहले उदाहरण में नेत्र (उपमेय) खंजन (उपमान) के गुण को धारण करता है। दूसरे उदाहरण में शिव और काम की क्रिया से इस फल का ज्ञान होता है कि निर्बल तेजस्वी से नहीं जीत सकता।

व्यतिरेकालंकार

व्यतिरेक जु उपमान तें, उपमेयाधिक देखि।
मुख है अंबुज-सो सखी, मीठी बात बिसेपि ॥९०॥

शब्दार्थ—अंबुज = कमल। बिसेपि = अधिक।

भावार्थ—जहाँ उपनाम से उपमेय में अधिकता दिखाई जाय वहाँ व्यतिरेकालंकार होता है। जैसे, हे सखी, तेरा मुख कमल के ही समान है, पर इसमें मीठी वाणी अधिक है।

सम०—यहाँ 'मुख' उपमेय में 'कमल' उपमान से 'मीठी बात' की अधिकता कही गई है।

सूचना—'व्यतिरेक' शब्द का अर्थ है 'बढ़कर'। 'प्रतीप' में उत्कर्ष का हेतु कहा नहीं जाता, 'व्यतिरेक' में कहा जाता है, यही दोनों में अंतर है।

सहोक्ति अलंकार

सो सहोक्ति दुहुँ[1] साथ ही, बरनै रस सरसाइ।
कीरति अरि-कुल-संग ही, जलनिधि पहुँची जाइ ॥९१॥

शब्दार्थ—रस = आनंद। सरसाइ = बढ़ाकर। जलनिधि = समुद्र।

भावार्थ—जहाँ एक साथ ही दो (वाक्यों) का वर्णन ('सह' आदि शब्दों के बल पर) आनंद को बढ़ाकर (मनोरंजकता से) किया जाय वहाँ **सहोक्ति** होती है। जैसे, शत्रु के कुल के साथ ही (शत्रु की) कीर्ति भी समुद्र में जा पहुँची।

सम०—यहाँ प्रधान वाक्य है 'अरि कुल का समुद्र में पहुँचना' उसके साथ ही अप्रधान वाक्य 'कीर्ति का पहुचना' भी 'संग ही' शब्द के बल से वर्णित हो गया है।

सूचना—'सहोक्ति' का अर्थ है 'सह' से युक्त 'उक्ति' (कथन)।

विनोक्ति अलंकार

है बिनोक्ति द्वै भाँति की, प्रस्तुत कछु बिन छीन।
अरु सोभा अधकी लहै, प्रस्तुत कछु बिन[2] हीन ॥९२॥

शब्दार्थ—छीन = (क्षीण) घटकर।

भावार्थ—**विनोक्ति** दो प्रकार की होती है। **पहली** (अशोभना)

१–सब। २–इक।

वह है जहाँ प्रस्तुत (उपमेय) किसी वस्तु के बिना क्षीण (अशोभित) हो। **दूसरी** (शोभना) वह है जहाँ प्रस्तुत किसी वस्तु से हीन (रहित) होकर अधिक शोभा प्राप्त करे।

सूचना--'विनोक्ति' का अर्थ है 'बिना सहित कथन'।

दृग खंजन-से कंज-से, अंजन बिनु सोभैं न।
बाला सब गुन सरस तू, रंच रुखाई है न ॥९३॥

शब्दार्थ--अंजन = काजल। बाला = स्त्री (नायिका)। रंच = थोड़ी।

भावार्थ--(पहली का उदा०) ये नेत्र खंजन और कमल से तो हैं, पर बिना काजल के शोभित नहीं होते। (दूसरी का उदा०) हे बाला, तुझमें थोड़ी-सी भी रुखाई (कठोरता) नहीं है इसलिये तू सब गुणों में उत्तम है।

सम०--यहाँ (पहले उदा० में) नेत्र उपमेय बिना अंजन के शोभित नहीं होते। (दूसरे उदा० में) 'रुखाई' के न होने से नायिका (प्रस्तुत) शोभित होती है।

समासोक्ति अलंकार

समासोक्ति अप्रस्तुत जु, फुरै सु प्रस्तुत माँझ[1]।
कुमुदिनिहू प्रफुलित भई, देखि कलानिधि साँझ ॥९४॥

शब्दार्थ--अप्रस्तुत = जिसका वर्णन नहीं हो रहा है। प्रस्तुत = वर्ण्य, जिसका वर्णन कवि को अभीष्ट है। कुमुदिनि = कुईं, दुखी (नायिका)। प्रफुलित = फूली (हुई), प्रसन्न। कलानिधि = चंद्रमा, कलाविद् (नायक)।

भावार्थ--जहाँ प्रस्तुत वर्णन में से अप्रस्तुत वर्णन भी निकल आता है वहाँ **समासोक्ति** होती है। जैसे, सायंकाल कलानिधि को देखकर कुमुदिनी प्रफुल्लित हुई।

१--प्रस्तुत फुरै प्रस्तुत वर्नन माँझ।

सम०--यहाँ प्रस्तुत वर्णन कुईं और चंद्रमा का है। पर (कुमुदिनि, प्रफुलित, कलानिधि शब्दों के दो-दो अर्थ होने से) इसी से यह अप्रस्तुत भी निकलता है कि नायक को देखकर दुखी नायिका प्रसन्न हुई।

सूचना--'समासोक्ति' का अर्थ है समास अर्थात् थोड़े में कथन।

परिकरालंकार

है परिकर आसय-लिए, जहाँ विसेसन होय।
ससि-वदनी यह नायिका, ताप हरति है जाय ॥९५॥

शब्दार्थ--आसय-लिए = साभिप्राय। जोय = देखो।

भावार्थ--जहाँ साभिप्राय विशेषण का प्रयोग किया जाय वहाँ **परिकरालंकार** होता है। जैसे, यह चंद्रमुखी नायिका ताप (गर्मी, दुःख) दूर करती है।

सम०--यहाँ नायिका का विशेषण 'शशिवदनी' साभिप्राय है, क्योंकि चंद्रमा का गुण ताप हरण करना है।

सूचना--'परिकर' का अर्थ है 'परिवार' अथवा शोभा करनेवाली 'सामग्री', जैसे राजा के लिये छत्र-चामरादि। यहाँ भी विशेषण शोभाकारक सामग्री होता है।

परिकरांकुरालंकार

साभिप्राय विसेष जब, परिकर-अंकुर नाम।
सूधेहू पिय के कहें, नेकु न मानति बाम ॥९६॥

शब्दार्थ--विसेष = विशेष्य। बाम = स्त्री, टेढ़ी।

भावार्थ--जहाँ पर विशेष्य साभिप्राय होता है वहाँ **परिकरांकुर** नामक अलंकार होता है। जैसे, वह वाम प्रिय (पति) के सीधे से कहने पर भी कुछ नहीं मानती।

सम०—यहाँ 'बाम' विशेष्य साभिप्राय है। क्योंकि 'बाम' का अर्थ 'टेढ़ी' भी होता है (तभी तो वह नहीं मानती)।

श्लेषालंकार

स्लेष-अलंकृति अर्थ बहु, एक सब्द मैं होत।
होत न पूरन नेह बिन, ऐसो[1] बदन-उदोत ॥९७॥

शब्दार्थ—अलंकृति = अलंकार। नेह = प्रेम, तेल। उदोत = प्रकाश, चमक।

भावार्थ—जहाँ एक ही शब्द के कई अर्थ होते हैं वहाँ **श्लेषालंकार** होता है। जैसे, परिपूर्ण स्नेह के बिना (नायिका के) मुख में ऐसा उद्योत (कांति, प्रकाश) नहीं हो सकता (अर्थात् इसमें स्नेह भरा है)।

सम०—यहाँ 'नेह' और 'उदोत' शब्द के दो-दो अर्थ हैं।

सूचना-'श्लेष' का अर्थ है चिपका हुआ, यहाँ एक शब्द में दो अर्थ चिपके रहते हैं। 'समासोक्ति' में समान विशेषण होते हैं और 'श्लेष' में विशेष्य श्लिष्ट होता है, यही दोनों में अंतर है।

अप्रस्तुतप्रशंसालंकार

अलंकार द्वै भाँति को, अप्रस्तुत-परसंस[2]।
इक बरनन प्रस्तुत बिना, दूजैं प्रस्तुत-अंस ॥९८॥

भावार्थ—**अप्रस्तुतप्रशंसा** दो प्रकार की होती है। एक वह जहाँ प्रस्तुत के बिना वर्णन होता है (अप्रस्तुत का वर्णन किया जाता है) और दूसरे जहाँ (अप्रस्तुत के वर्णन में) प्रस्तुत का अंश रहता है।

बिष राखत हैं कंठ सिव, आप धर्‌यो इहिं हेत।
धनि यह चरचा ज्ञान की, सकल समै सुख देत ॥९९॥

शब्दार्थ—आप = जल (गंगा)।

भावार्थ—(पहले प्रकार का उदा०) शिवजी कंठ में विष रखते हैं,

१—दीपक। २—अप्रस्तुत-प्रसंस।

इसी से सिर पर जल भी धारण करते हैं (क्योंकि विप की ज्वाला जल की शीतलता से ही शांत हो सकती है)। (दूसरे का उदा०) यह ज्ञान की चर्चा धन्य है जो सब समय सुख देती है।

सम०--यहाँ (पहले उदाहरण में) बिना किसी प्रस्तुत का निर्देश किए ही शंकर का अप्रस्तुत-वर्णन किया गया है। इसके द्वारा यह लक्षित कराया गया है कि जो खराब वस्तु का संग्रह करेगा उसे उसकी खराबी के दूर करने के लिये अच्छी वस्तुओं को भी स्थान देना ही पड़ेगा, नहीं तो फिर वह उसे सह नहीं सकेगा। (दूसरे उदाहरण में) 'यह' शब्द के द्वारा ज्ञात होता है कि इस वर्णन में प्रस्तुत का भी अंश है (किसी प्रस्तुत वृत्तांत को ही लेकर यह बात कोई किसी से कह रहा है)।

सूचना—'अप्रस्तुत-प्रशंसा' का अर्थ हैं अप्रस्तुत (उपमान) की प्रशंसा (वर्णन)। यहाँ अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत (उपमेय) लक्ष्य कराया जाता है। 'समासोक्ति' में प्रस्तुत के वर्णन से अप्रस्तुत प्रकट होता है, यही दोनों में भेद है। अन्य ग्रंथों में 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' के पाँच भेद किए गए हैं-- सामान्य-निबंधना, विशेप-निबंधना, कार्य-निबंधना, कारण-निबंधना, और सारूप्य-निबंधना या अन्योक्ति। यहाँ जो भेद दिए गए है, वे विशेप-निबंधना (विशेप का वर्णन करके सामान्य लक्षित करना) और सामान्य-निबंधना (सामान्य के वर्णन से विशेप लक्षित करना) कहे जा सकते हैं। पहले को 'अन्योक्ति' भी कह सकते हैं (समान बात का वर्णन करके समान बात लक्षित करना)।

कई प्रतियों में इस दोहे (९९) की पंक्तियाँ उलटी हैं, पर हमें यही क्रम ठीक जँचा है।

प्रस्तुतांकुरालंकार

प्रस्तुत-अंकुर है किए, प्रस्तुत मैं प्रस्ताइ।
कहाँ गयो अलि केवरे छाँड़ि, सुकोमल जाइ ॥१००॥

शब्दार्थ—प्रस्ताइ = फैलकर । अलि = भौंरा । केवरे = केवड़े में । जाइ = (जाति) चमेली ।

भावार्थ—जहाँ प्रस्तुत-वर्णन में दूसरा प्रस्तुत अंकुर किए रहता (उसमें से प्रकट होता) है वहाँ **प्रस्तुतांकुर** होता है । जैसे, हे भौंरे, तू कोमल चमेली को छोड़कर (काँटेदार) केवड़े के पास क्यों गया ?

सम०—यहाँ किसी उपवन में कोई व्यक्ति (सखी) दूसरे व्यक्ति (नायक) से 'कहाँ गयो०' कह रहा है । यहाँ प्रस्तुत-वर्णन तो भौंरे का ही है (क्योंकि उपवन में उन्हें प्रत्यक्ष वह घटना दिखाई दे रही है) । इसमें दूसरा प्रस्तुत (नायक के संबंध में) भी लग जायगा कि तू ऐसी सुंदर नायिका को छोड़ दूसरे के यहाँ क्यों जाता है ।

सूचना—'प्रस्तुतांकुर' को लोगों ने भिन्न अलंकार नहीं माना है इसे भी 'अन्योक्ति' ही समझा है । यहाँ अप्रस्तुत भ्रमर के वर्णन से प्रस्तुत नायक-वृत्तांत निकलता है ।

पर्यायोक्ति अलंकार

पर्यायोक्ति प्रकार द्वै, कछु रचना सों बात ।
मिस करि कारज साधिए, जो है[1] चित्त सुहात ॥१०१॥

शब्दार्थ—मिस = बहाना ।

भावार्थ—पर्यायोक्ति दो प्रकार की होती है। एक में कुछ रचना के द्वारा बात कही जाती है (कुछ घुमा-फिराकर कोई बात कहते हैं)। दूसरी में किसी बहाने से चित्त को अच्छा लगनेवाला कार्य साधा जाता है ।

चतुर वहै जिहिं तुव गरैं, बिनु गुन डारी माल ।
तुम दोऊ बैठौ[2] इहाँ, जाति अन्हावन ताल ॥१०२॥

शब्दार्थ—गरैं = गले में । गुन = डोर । अन्हावन = स्नान करने ।

१—जौं बट । २—बैठो ।

भावार्थ—(प्रथम पर्यायोक्ति का उदा०—रात में किसी अन्य नायिका के यहाँ रहकर आनेवाले नायक से कोई नायिका कहती है कि) वह बड़ा चतुर था जिसने तुम्हारे गले में बिना डोर की माला (दूसरी नायिका के आलिंगन से छाती पर उभड़ा हुआ मोती के दानों का दाग) छोड़ दी है ! (अर्थात् तुम किसी दूसरी नायिका को आलिंगन करके आ रहे हो यह मुझे लक्षित हो गया है)। (दूसरी का उदा०) तुम दोनों यहीं बैठो, मैं तालाब में स्नान करने जा रही हूँ (यह उक्ति सखी की है। वह नायक और नायिका दोनों को एकांत में छोड़कर स्वयं हट जाना चाहती है, जिससे उन्हें प्रेमालाप में स्वच्छंदता मिले)।

सम०—यहाँ (पहले उदा० में) कहना तो यह था कि आपका पर-स्त्री प्रेम लक्षित हो गया है, पर उसने उसे घुमा-फिराकर व्यंग्य रूप में इस तरह कहा है कि तुम्हें बिना डोर की माला पहनानेवाला बड़ा निपुण है (क्योंकि साधारणतया माला सूत्र के बिना नहीं देखी जाती)। (दूसरे उदा० में) सखी को यह इष्ट था कि नायक-नायिका एकांत में स्वच्छंदता से प्रेमालाप करें। इसके लिये उसने ताल में स्नान करने का बहाना करके वहाँ से टल जाने का उपाय सोचा है।

सूचना—'पर्यायोक्ति' का अर्थ है 'पर्याय अर्थात् प्रकारांतर से कहना'।

व्याजस्तुति अलंकार

व्याजस्तुति निंदा मिसैं[1], जहाँ[2] बड़ाई होय[3]।
स्वर्ग चढ़ाए पतित लै, गंग कहा कहौं[4] तोय[5] ॥१०३॥

शब्दार्थ—मिसैं = बहाने से। पतित = नीच। तोय = तुझे।

भावार्थ—जहाँ निंदा करने के बहाने बड़ाई (स्तुति) की जाय, वहाँ **व्याजस्तुति** अलंकार होता है। जैसे, हे गंगा, मैं तुझे क्या कहूँ,

१—मिसहि। २—जबै। ३—होहि, जोहि। ४—विपै। ५—तोहि।

(तू ने बड़ा बुरा काम किया है क्योंकि) तू ने पतितों को स्वर्ग में चढ़ा दिया है।

सम०--यहाँ गंगा की निंदा की जा रही है कि तू ने पतितों को स्वर्ग में चढ़ा दिया (यह अच्छा नहीं है), पर यह वस्तुतः गंगा की बड़ाई (स्तुति) है कि गंगा पतितों को भी तार देती है।

सूचना---'व्याजस्तुति' शब्द का अर्थ है 'बहाने की स्तुति' अर्थात् निंदा के बहाने से स्तुति (बड़ाई)।

व्याजनिंदालंकार

व्याजनिंद निंदा-विषैं,[1] निंदा औरै होय।
सदा छीन कीनो न जिहिं[2] चंद, मंद है सोय ॥१०४॥*

शब्दार्थ--विषैं = में। मंद = मूर्ख।

भावार्थ—जहाँ निंदा करने पर दूसरे किसी की निंदा हो वहाँ **व्याजनिंदा** होती है। जैसे, जिसने चंद्रमा को सदा क्षीण होनेवाला नहीं बनाया है वह मूर्ख है।

सम०—यहाँ सीधे निंदा तो चंद्रमा को क्षीण न बनानेवाले की की गई है, पर उसके द्वारा चंद्रमा की भी निंदा प्रकट होती है (क्योंकि चंद्रमा ऐसे कलंकी का नित्य क्षीण रहना आवश्यक था)।

सूचना—वस्तुतः 'व्याजस्तुति' के ही अंतर्गत 'व्याजनिंदा' भी आ जाती है, केवल उसका विग्रह दूसरे ढंग से होता है। 'स्तुति के व्याज

१–मिसैं। २–क्यों।

* वेंकटेश्वर प्रेसवाली प्रति में व्याजनिंदा का यह लक्षण और उदाहरण भी मिलता है—

व्याजनिंद अस्तुति-विषै, निंदा औरै होय।
साधु-साधु सखि! मो लिए, सहे दंत-नख दोय॥

(बहाने से) निंदा' अथवा 'व्याज (बहाने) की स्तुति'। पर कुछ लोगों ने इन्हें दो अलंकार माना है। इसके अतिरिक्त ऊपर जो लक्षण दिया गया है उसे लोगों ने उसका एक भेद माना है। उन्होंने मूल लक्षण वही दिया है—जहाँ स्तुति के बहाने निंदा हो। जैसे—

सेमर ! तू बड़भाग है, कहा सराह्यो जाय।
पंछी करि फल-आस तोहि, निसि-दिन सेवहिं आय ॥

आक्षेपालंकार

तीनि भाँति आच्छेप हैं, एक निषेधाभासु।
पहिले कहिए आपु कछु, बहुरि फेरिए तासु ॥१०५॥

भावार्थ—आक्षेप तीन प्रकार का होता है। पहला भेद वह है जिसे **निषेधाभास** कहते हैं। (दूसरा भेद) जहाँ पहले कोई बात स्वयं कही जाय और फिर उसका निषेध कर दिया जाय। (यह निषेध इस लिये किया जाता है कि दूसरी बात पहली से उत्कृष्टतर होती है। इसका नाम **उक्ताक्षेप** है, अर्थात् उक्त का—कहे हुए का—आक्षेप—निषेध।)

सूचना—जहाँ निषेध का आभास हो (पहले किसी बात का निषेध किया जाय, फिर उसी की दूसरे प्रकार से स्थापना की जाय) वहाँ निषेधाभास (या निषेधाक्षेप) होता है।

दुरै निषेध जु विधि-बचन, लच्छन तीनौं लेखि[1]।
हौं नहिं दूती, अगिनि तें तिय-तन-ताप बिसेषि ॥१०६॥

शब्दार्थ—दुरै = छिपाकर। विधि = आज्ञा। बिसेषि = बढ़कर।

भावार्थ—(तीसरा आक्षेप वह है) जहाँ निषेध को छिपाकर विधि-वचन कहा जाय, (अर्थात् कार्य करने की आज्ञा तो दी जाय पर उसमें छिपा निषेध हो—इसे **व्यक्ताक्षेप** कहते हैं अर्थात् व्यक्त का आक्षेप—

१—पेखि।

प्रकट बात का निषेध)। (निषेधाभास का उदाहरण) मैं दूती नहीं (दूतियों की तरह मैं बात बढ़ाकर नहीं कहती हूँ। उसकी दशा देखकर मुझसे रहा नहीं गया, इससे केवल आपको सूचित करने के लिये इतना बतलाए देती हूँ कि) नायिका के शरीर की गर्मी (आपके वियोग के कारण इस समय) अग्नि से भी बढ़कर है।

सम०—यहाँ 'मैं दूती नहीं हूँ' कहकर निषेध का केवल आभास दिया गया है। क्योंकि वही आगे चलकर नायक से नायिका के विरहताप का वर्णन करती है और 'दूती' का ही कार्य 'विरह-निवेदन' है।

सीतकिरन दै दरस तू, अथवा तिय-मुख आहि।
देहि जन्म मोकों दई, चले देस तुम जाहि ॥१०७॥

शब्दार्थ—सीतकिरन = चंद्रमा। आहि = है। दई = दैव, विधाता।

भावार्थ—(दूसरे भेद उक्ताक्षेप का उदा०) हे शीतकिरण (चंद्रमा) तू मुझे दर्शन दे अथवा (तेरी कोई आवश्यकता नहीं—तू मुझे दर्शन दे या न दे) स्त्री (नायिका) का मुख तो है ही (वह चंद्रमा से अधिक शीतलतादायक है)। (तीसरे भेद का उदा०—कोई नायिका अपने विदेश जानेवाले पति से कहती है कि हाँ-हाँ आप प्रसन्नता से विदेश जाइए। मेरी तो विधाता से यही प्रार्थना है कि) हे विधाता, आप (नायक) जिस देश को जा रहे हैं वहीं मेरा जन्म हो (अर्थात् आपके जाने पर मैं मर जाऊँगी और फिर वहीं जन्म लूँगी जहाँ आप जा रहे हैं)।

सम०—यहाँ (पहले उदा० में) चंद्रमा के दर्शन देने की जो बात पहले कही गई है उसका निषेध इसीलिये है कि कवि उससे उत्कृष्टतर वस्तु (उपमेय) मुख का उल्लेख करता है। (दूसरे उदा० में) वस्तुतः प्रत्यक्ष विदेश जाने की आज्ञा है, पर परोक्ष रूप में यह प्रदर्शित किया गया है कि आप विदेश न जाइए (क्योंकि आपके विदेश जाने पर मैं मर जाऊँगी)।

सूचना—'आक्षेप' का अर्थ है 'निपेध'। यहाँ कथित बात का निपेध होता है।

विरोधाभासालंकार

भासै जबै विरोध-सो, वहै विरोधाभास।
उत रत हौ उतरत नहीं, मन तें प्रान-निवास ॥१०८॥

शब्दार्थ—उत = वहाँ (दूसरी नायिका से)। रत = अनुरक्त। मन तें उतरत नहीं = मन से नहीं उतरती। प्राननिवास = प्राणपति (स्वामी)।

भावार्थ—जहाँ विरोध-सा भासित हो, वास्तविक विरोध न हो वहाँ **विरोधाभास** होता है। जैसे, हे प्राणनिवास ! आप उस ओर (दूसरी नायिका में) आसक्त हैं, वह आपके मन से नहीं उतरती (आप बराबर उसको ध्यान में चढ़ाए रहते हैं)।

सम०—यहाँ 'उत रत हौ उतरत नहीं' में विरोधाभास जान पड़ता है। क्योंकि कोई 'उतरत' होकर 'उतरत नहीं' नहीं हो सकता।

सूचना०—द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति के प्रस्तार से लोगों ने इसके दस भेद किए हैं।

विभावनालंकार

होति[1] छ भाँति विभावना, कारन बिनहीं काज।
बिनु जावक दीनें चरन, अरुन लखे हैं आज ॥१०९॥

शब्दार्थ—काज = (कार्य)। जावक = (यावक) महावर। अरुन = लाल।

भावार्थ--**विभावना** छः प्रकार की होती है। (**पहली**) विभावना वह है जहाँ बिना कारण के ही कार्य हो जाय। जैसे, आज बिना महावर लगाए ही (नायिका के) चरण लाल दिखाई दे रहे हैं।

१—होहिं।

सम०—यहाँ 'ललाई' कार्य का कारण 'यावक लगना' है। उसके विना ही पैरों का लाल होना कहा गया है (पैर स्वभावतः लाल होते हैं)।

सूचना—'विभावना' शब्द का अर्थ है 'कारण का अभाव' या 'कारणांतर की कल्पना' अर्थात् जो मूल कारण है उसकी अनुपस्थिति कथन करना। 'विभावना' के सभी भेदों में मूल कारण का अभाव होता है। कहीं तो स्पष्ट ही उसका अभाव होगा, जैसा पहले भेद में है और कहीं अर्थ के द्वारा उसका अभाव ज्ञात होगा।

हेतु अपूरन तें जबै, कारज पूरन होय।
कुसुम-बान कर गहि मदन, सब जग जीत्यो जोय ॥११०॥

शब्दार्थ—कुसुम-बान = फूलों के वाण। कर = हाथ। मदन = कामदेव। जोय = देखो।

भावार्थ—जब अपूर्ण हेतु (कारण) से पूर्ण कार्य होता है तो (दूसरी) विभावना होती है। जैसे, देखो कामदेव ने फूलों के वाण हाथ में लेकर सारे संसार को जीत लिया है।

सम०—यहाँ सारे संसार को जीतने के लिये फूलों के वाण पर्याप्त नहीं हैं (किसी अत्यंत कठोर धातु के बने वाण होते तो कुछ ठीक भी होते) इसलिये यह अपूर्ण कारण है, पर फिर भी कार्य पूर्ण होता है।

प्रतिबंधक के होतहू[1], कारज पूरन मानि।
निसिदिन स्रुति-संगति तऊ, नैन राग की खानि ॥१११॥

शब्दार्थ—प्रतिबंधक = रोकनेवाला। स्रुति = (श्रुति) वेद और कान। संगति = साथ। राग = अनुराग (सांसारिक विषय से और प्रेमी से)।

भावार्थ—जब कारण के लिये प्रतिबंधक के होने पर भी पूर्ण कार्य

१—हू होत है।

हो तो (**तीसरी**) विभावना होती है। जैसे, श्रुति (वेद) की संगति रातोदिन रहने पर भी नेत्र राग (विषयों के अनुराग) की खानि हैं (वेद की संगति में रहनेवाले वेदाभ्यासी को ऐसा नहीं होना चाहिए था। श्लेष से नेत्र कान के पास रहते हैं, कान तक विस्तृत हैं; और प्रेमी में अनुराग रखते हैं)।

सम०—यहाँ नेत्रों के रागी होने में 'श्रुति की संगति' प्रतिबंधक थी फिर भी वे रागी हो गए, यही पूर्ण कार्य है।

जबै अकारन वस्तु तें, कारज प्रगटहि होत।
कोकिल की बानी अबै, बोलत सुन्यो कपोत ॥११२॥

शब्दार्थ—कोकिल = कोयल (नायिका की वाणी का उपमान—कोयल की सी मीठी वाणी)। कपोत = कबूतर (कंठ)।

भावार्थ—जब अहेतु (जो किसी वस्तु का कारण नहीं उस) से कार्य प्रकट होता है तो (**चौथी**) विभावना होती है। जैसे, (सखी नायक से कह रही है) अभी मैंने कबूतर को कोयल की वाणी बोलते सुना है (नायिका अपने कबूतर के समान कंठ से कोयल की सी मीठी वाणी बोल रही है)।

सम०—यहाँ 'कपोत' कोकिल की वाणी बोलने का हेतु नहीं है, पर उसे ही कारण कहा गया है।

काहू कारन तें जबै, कारज होहि[1] बिरुद्ध।
करत मोहि संताप यह[2], सखी सीतकर सुद्ध ॥११३॥

शब्दार्थ—काहू = किसी। सीतकर = (शीतकर) चंद्रमा। संताप = दुःख, विशेष गर्मी।

भावार्थ—जब किसी कारण से विरुद्ध कार्य उत्पन्न हो (अर्थात् जब विपरीत कारण से कार्य उत्पन्न हो) तो (**पाँचवीं**) विभावना होती

१—होत। २—ही।

है। जैसे, हे सखी यह शुद्ध चंद्रमा मुझे संताप ही देता है (नायिका विरहिणी है, इसलिये पति से वियुक्त रहने के कारण जो वस्तुएँ पहले सुखदायक थीं वे दुःखदायिनी हो गई हैं)।

सम०—यहाँ 'शीत किरणोंवाला' (चंद्रमा) कारण है पर कार्य 'संताप' (अत्यंत गर्मी) उसके विरुद्ध उत्पन्न हुआ है।

पुनि कछु कारज तें जवै, उपजै कारन-रूप।
नैन-मीन तें देखियत, सरिता वहति अनूप ॥११४॥

शब्दार्थ—मीन = मछली। सरिता = नदी। अनूप = अद्वितीय (बहुत बड़ी)।

भावार्थ—जहाँ किसी कार्य से ही (कोई) कारण-रूप वस्तु उत्पन्न होती हुई वर्णन की जाती है वहाँ (**छठी**) विभावना होती है। जैसे नेत्र रूपी मछली से अनुपम नदी (अश्रुधारा) बहती देखी जाती है (नायिका विरहिणी है, इसलिये रो रही है)।

सम०—यहाँ वस्तुतः 'नदी' कारण है और 'मछली' कार्य है, क्योंकि नदी में मछलियाँ उत्पन्न होती हैं। पर वर्णन ऐसा है कि मछली से नदी का उत्पन्न होना दिखाया गया है (यही कार्य से कारण की उत्पत्ति है)।

विशेषोक्ति अलंकार

विसेषोक्ति जवै हेतु सों, कारज उपजै नाहिं।
नेह घटत है नहिं तऊ, काम-दीप घट माहिं ॥११५॥

शब्दार्थ—नेह = (स्नेह) प्रेम, तेल। काम-दीप = कामना रूपी दीपक। घट = वर्तन, शरीर।

भावार्थ—जब हेतु के रहते भी कार्य की उत्पत्ति न हो तो **विशेषोक्ति** होती है। जैसे, शरीर में काम-दीप (के जलते) रहने पर भी स्नेह

१—यह। २—जो। ३—नहिं जब लगि।

(तेल) नहीं घटता (जब दीपक जलता रहता है तो उसका तेल घट जाता है, पर काम-दीपक के जलने से स्नेह नहीं घटता)।

सम०—यहाँ 'काम-दीपक का घट में जलना' कारण है, फिर भी स्नेह (तेल) नहीं घटता, कार्य नहीं होता।

सूचना—'विशेषोक्ति' शब्द में 'विशेष' का अर्थ है 'कार्य की उत्पत्ति न होना'। यहाँ कारण के होते भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। इसके तीन भेद भी किए गए हैं—उक्तनिमित्ता, अनुक्तनिमित्ता और अचिंत्यनिमित्ता। ऊपर का उदाहरण उक्तनिमित्ता हैं, क्योंकि यहाँ कारण कहा गया है।

असंभवालंकार

कहैं[1] असंभव होत जब, बिनु संभावन काज।
गिरिबर धरिहै गोपसुत, को जानै यह[2], आज ॥११६॥

शब्दार्थ—गिरिबर = बड़ा पर्वत (गोवर्धन)। गोपसुत = अहीरों का लड़का (गोपाल, श्रीकृष्ण)। को जानै यह = यह कौन जानता था।

भावार्थ—(जब ऐसी बात कही जाती है जिसकी संभावना न रही हो अर्थात्) जहाँ बिना संभावनावाले (असंभावित) कार्य का होना कहा जाय वहाँ **असंभवालंकार** होता है। जैसे, यह कौन जानता था कि आज गोप का लड़का बड़े भारी पर्वत को उठा लेना।

सम०—यहाँ एक अहीर के मामूली लड़के का भारी पर्वत उठा लेना एक असंभावित घटना है।

सूचना—'असंभव' शब्द का अर्थ है किसी पदार्थ के होने की असंभावना।

असंगति अलंकार

तीनि असंगति, काज अरु कारन न्यारे ठाम।
और ठौर ही कीजिए, और ठौर को काम ॥११७॥

१—कहत। २—इहि।

शब्दार्थ—न्यारे = भिन्न। ठाम = स्थान। ठौर = स्थान।

भावार्थ—असंगति के तीन भेद होते हैं। (**पहली**) असंगति वह है जहाँ कार्य और कारण विभिन्न स्थानों में वर्णित हों (कारण कहीं हो और कार्य कहीं हो)। (**दूसरी**) असंगति वह है जहाँ अन्य स्थान में करने योग्य कार्य को अन्य स्थान में किया जाय।

> और काज आरंभिए, औरै करिए दौर।
> कोयल मदमाती भई, झूमत अंबा-मौर ॥११८॥

शब्दार्थ—दौर = प्रकार, रूप। अंबा = आम। मौर = मंजरी, बौर।

भावार्थ—(**तीसरी**) असंगति वहाँ होती है जहाँ कोई कार्य आरंभ किया जाय, पर और ही कोई काम (उसके विरुद्ध) कर डाला जाय। (पहले भेद का उदा०—) मदमाती तो कोयल हुई (वसंत के आगमन से) पर झूमती है आम की मंजरी (जो व्यक्ति मदमत्त होता है वह झूमने लगता है—यहाँ मदमत्त कोयल होती है और झूमती है आम की मंजरी)।

सम०—यहाँ कारण है 'मदमत्त होना' वह कोकिल में बतलाया गया है और कार्य 'झूमना' है वह आम-मंजरी में कहा गया है, दोनों (कार्य और कारण के स्थानों) में भिन्नदेशता है।

सूचना—(१) 'विरोधाभास' में विभिन्न स्थानों में रहनेवाली वस्तुएँ एक ही स्थान में दिखाई जाती हैं और इसमें एक स्थान में रहने वाली वस्तुएँ विभिन्न स्थानों में वर्णित होती हैं। इसलिये यह भेद उसका उलटा है।

(२) इस भेद में यह ध्यान रखना चाहिए कि वस्तुओं को अत्यंत भिन्न देश में होना चाहिए, एक ही स्थान में कुछ हट-बढ़कर रहनेवाली वस्तुओं के संबंध में असंगति नहीं होगी।

१–कोकिल। २–औरहि।

(३) 'असंगति' का अर्थ है 'अयोग्य संगति'।

तेरे अरि की अंगना, तिलक लगायो पानि।
मोह मिटायो नाहिं प्रभु, मोह लगायो आनि ॥११९॥

शब्दार्थ—अरि = शत्रु। अंगना = स्त्री। तिलक = (१) टीका, (२) तिल और क (जल)। पानि = हाथ। आनि = आकर।

भावार्थ—(दूसरे भेद का उदा०) तुम्हारे शत्रु की स्त्री ने हाथ में तिलक लगाया (शत्रु के मर जाने से हाथों द्वारा तिल और जल दिया)। (तीसरे भेद का उदा०) हे प्रभु, (आपका अवतार संसार में मोह दूर करने के लिये हुआ था पर) आपने मोह मिटाया तो नहीं, उलटे यहाँ आकर मोह लगा दिया (लोग भगवान की लीला से और अधिक मोहित हो गए)।

सम०—(पहले उदा० में) 'तिलक' मस्तक में लगाने की वस्तु है, पर हाथ में लगाई गई है। (दूसरे उदा० में) प्रभु का अवतार हुआ था 'मोह मिटाने के लिये' पर उससे विरुद्ध कार्य हो गया 'मोह लगाना' (मोह बढ़ाना)।

सूचना—कुछ लोग 'प्रभु' का अर्थ 'नायक' करते हैं। विदेश से लौटकर आए हुए और तुरत ही जाने को प्रस्तुत नायक से नायिका कह रही है।

विषमालंकार

विषम-अलंकृति तीनि विधि, अनमिलते[1] को संग।
कारन को रँग और कछु, कारज औरै रंग ॥१२०॥

शब्दार्थ—अलंकृति = अलंकार। अनमिलते = जो मिलने योग्य न हों, जिनकी संगति उचित न जँचे।

१—अनमिलतहि।

भावार्थ—विषमालंकार तीन प्रकार का होता है। पहला वह है जहाँ बेमेल वस्तुओं का एक साथ होना कहा जाय। जहाँ कारण किसी और रंग का हो और (उससे उत्पन्न) कार्य किसी और रंग का हो वहाँ दूसरा विषम होता है।

और भलौ उद्यम किए, होत बुरौ फल आय।
अति कोमल तन तीय को, कहाँ बिरह की लाय ॥१२१॥

शब्दार्थ—तीय = स्त्री (नायिका)। लाय = अग्नि।

भावार्थ—तीसरा विषमालंकार वहाँ होता है जहाँ अच्छा उद्यम (भले के लिये कुछ) करने पर बुरा फल हो। (पहले भेद का उदा०) कहाँ तो स्त्री (नायिका) का कोमल शरीर और कहाँ विरह की (भयंकर) अग्नि।

सम०—यहाँ नायिका के कोमल अंग और विरहाग्नि ये दो बेमेल वस्तुएँ हैं। कोमल अंग के साथ भीषण अग्नि अनुचित जान पड़ती है।

खंगलता अति स्याम तें, उपजी कीरति सेत।
घँसि लौई घनसार पै, अधिक ताप तन देत ॥१२२॥

शब्दार्थ—खंग = (खड्ग) तलवार। स्याम = काली (रूढ़ि के अनुसार तलवार का रंग काला माना गया है)। सेत = उज्ज्वल (कीर्ति का रंग उज्ज्वल माना गया है)। घनसार = कपूर। ताप = गर्मी।

भावार्थ—(दूसरे भेद का उदा०) हे राजन्, आपने अपनी काली खड्गलता (तलवार) से उज्ज्वल कीर्ति उत्पन्न की है (तलवार के कौशल से शत्रुओं को पराजित करके अपनी कीर्ति फैलाई है)। (तीसरे भेद का उदा०—कोई सखी किसी दूसरी सखी से कह रही है कि) मैं उस (विरहिणी नायिका) के शरीर में लेप करने के लिये कपूर घिसकर ले आई थी, पर यह उसके शरीर को और अधिक ताप दे रहा है।

१—कान। २—खड्ग। ३—घसि लायी।

सम०—यहाँ (पहले उदा० में) 'खड्गलता' कारण का रंग काला है और उससे उत्पन्न कीर्ति कार्य का रंग उज्ज्वल है। (दूसरे उदा० में) नायिका के शरीर की गर्मी दूर करने के लिये कपूर लगाया गया था पर उसका परिणाम उलटा हुआ, उसके शरीर में और अधिक गर्मी हो गई।

सूचना—'विषम' का अर्थ है 'जो सम नहीं' अर्थात् जो यथायोग्य नहीं।

समालंकार

अलंकार सम तीनि बिधि, जथाजोग को संग।
कारज मैं सब पाइए, कारन ही को अंग ॥१२३॥

शब्दार्थ—जथायोग = जो योग्य हैं, मेल खाते हैं। अंग = शरीर, रूप।

भावार्थ—**समालंकार** तीन प्रकार का होता है। **पहला** वह है जहाँ यथायोग्य की संगति दिखलाई जाय। **दूसरा** वह है जहाँ कार्य में कारण का सब अंग मिल जाय (कारण से ठीक-ठीक मिलता कार्य हो)।

श्रम बिन कारज सिद्ध जब, उद्यम करतैं होय।
हार बास तिय-उर कर्‌यो, अपने लायक जोय ॥१२४॥

शब्दार्थ—करतैं = करते ही। हार = माला। जोय = देखकर।

भावार्थ—(**तीसरा** वह है) जहाँ परिश्रम के विना उद्यम करते ही कार्य सिद्ध हो जाय। (पहले भेद का उदा०) माला ने अपने योग्य स्थान को देखकर स्त्री (नायिका) के उर (वक्षस्थल) पर वास किया है (माला के योग्य स्थान स्त्री का उर ही था)।

सम०—यहाँ हार और तिय-उर दोनों मेल खानेवाले पदार्थ हैं, दोनों की संगति मिलना उचित कहा गया है।

नीच-संग अचरज नहीं, लछमी[1] जलजा आहि।
जस ही को उद्यम कियो, नीकैं पायो ताहि ॥१२५॥

१—लच्छी।

शब्दार्थ—जलजा =जल (समुद्र) से उत्पन्न । आहि = है । नीकैं = भली भाँति ।

भावार्थ—(दूसरे भेद का उदा०) यदि लक्ष्मी नीच के संग रहती है तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, क्योंकि लक्ष्मी जलजा (समुद्र से उत्पन्न) है (जल का स्वाभाविक गुण होता है कि वह नीचे की ओर बहे) । (तीसरे भेद का उदा०) अमुक ने यश की प्राप्ति के लिये उद्योग किया और उसे भली भाँति प्राप्त किया ।

सम०—(पहले उदा० में) 'लक्ष्मी' कार्य है और 'जल' कारण है दोनों को एक रूप (नीच-संग-प्रिय) कहा गया है । (दूसरे उदा० में) यश-प्राप्ति का उद्यम हुआ और उसकी भली भाँति प्राप्ति हुई ।

सूचना—'समालंकार' के तीनों भेद क्रमशः 'विषमालंकार' के तीनों भेदों के उलटे हैं । 'सम' का अर्थ है 'समान' अर्थात् यथोचित ।

विचित्रालंकार

इच्छा फल विपरीत की, कीजै जतन विचित्र ।
नवत उच्चता लहन कौं, जो हैं[1] पुरुष पवित्र ॥१२६॥

शब्दार्थ—जतन = (यत्न) । नवत = झुकते हैं, विनम्र बनते हैं । लहन = पाना ।

भावार्थ—जहाँ (जिस फल की इच्छा की जाय उस) फल की इच्छा के विपरीत प्रयत्न किया जाय वहाँ **विचित्रालंकार** होता है । जैसे, जो पवित्र मनुष्य है वह उच्चता प्राप्त करने के लिये नवता है ।

सम०—यहाँ उच्चता प्राप्त करने की इच्छा के विपरीत 'नवना' (नमित होना) किया की गई है ।

सूचना—'विचित्र' का अर्थ है 'अद्भुत' । यहाँ विपरीत फल की इच्छा अद्भुत बात ही है ।

१—जो हैं ।

अधिकालंकार

अधिकाई आधेय की, जब अधार तें होय।
जो अधार आधेय तें अधिक, अधिक ये दोयं ॥१२७॥

भावार्थ—अधिक अलंकार दो प्रकार का होता है। **पहला** वह है जहाँ (बड़े से बड़े) आधार से आधेय की अधिकता (बड़ाई) दिखाई जाय। **दूसरा** वह है जहाँ (बड़े से बड़े) आधेय से आधार अधिक (बड़ा) दिखाया जाय।

सात दीप नौ खंड मैं, तुव जस[2] नाहिं समात।
सब्द-सिंधु केतौ जहाँ, तुव गुन बरने जात ॥१२८॥

शब्दार्थ—नाहिं समात = नहीं अँटता। सब्द-सिंधु = शब्द रूपी समुद्र। केतौ न = जाने कितना बड़ा।

भावार्थ—(हे राजन्) आपका यश सातो द्वीपों और नवो खंडों में नहीं अँटता (—पहले भेद का उदा०)। वह शब्द रूपी समुद्र न जाने कितना बड़ा है जिससे आपके इतने (अधिक—असंख्य) गुणों का वर्णन होता है (—दूसरे का उदा०)।

सम०—(पहले उदा० में) 'सातो द्वीप और नवो खंड' बड़े से बड़े आधार हैं। उनसे भी बड़ा 'यश' आधेय कहा गया है। (दूसरे में) 'गुण' आधेय (असंख्य होने से) बड़ा है। 'शब्द-सिंधु' आधार उससे भी बड़ा बतलाया गया है।

अल्पालंकार

अल्प अल्प आधेय तें, सूछम होय अधार।
अँगुरी की मुँदरी हुती, भुज मैं[3] करति बिहार ॥१२९॥

शब्दार्थ—अल्प=छोटा। सूछम = छोटा। हुती = थी।

१—न लहिए सोय। २—कीरति। ३—पहुँचनि।

भावार्थ—जहाँ छोटे (से छोटे) आधेय से भी छोटा आधार वर्णित हो वहाँ **अल्पालंकार** होता है। जैसे, (सखी-वचन नायक प्रति) जो पहले (प्रिय से संयुक्त रहने पर नायिका का) अँगुली की मुद्रिका थी, वही अब (प्रिय से विमुक्त होने से विरह-जन्य दुर्बलता के कारण) हाथ (कलाई) में विहार करती है (भली भाँति अँट जाती है)।

सम०—यहाँ 'मुँदरी' छोटे से छोटा आधेय है, उससे भी छोटा 'भुज' आधार कहा गया है।

सूचना—'अधिक' के दूसरे भेद से मेल मिलाने के लिये कुछ लोगों ने 'अल्प' का भी एक दूसरा भेद किया है।

अन्योन्यालंकार

अन्योन्यालंकार है, अन्योन्यहि उपकार।
ससि सों निसि नीकी लगै, निसि ही सों ससि सार ॥१३०॥

शब्दार्थ—नीकी = सुंदर, अच्छी। सार=तत्त्व (तत्त्वपूर्ण, बढ़िया)।

भावार्थ—जहाँ (दो पदार्थ) अन्योन्य (परस्पर) उपकारक हों वहाँ **अन्योयालंकार** होता है। जैसे, चंद्रमा से रात्रि अच्छी लगती है और रात्रि के कारण (रात में) चंद्रमा बढ़िया जान पड़ता है।

सम०—यहाँ चंद्रमा और रात्रि परस्पर एक-दूसरे के उपकारक हैं।

विशेषालंकार

तीनि प्रकार बिसेष हैं, अनाधार आधेय।
थोरौ कछु आरंभ जब, अधिक सिद्धि कों देय ॥१३१॥

शब्दार्थ—अनाधार = आधार के बिना। देय = देता है।

भावार्थ—**विशेषालंकार** तीन प्रकार का होता है। **पहला** वह है जहाँ बिना आधार के आधेय का वर्णन हो। **दूसरा** वह है जहाँ थोड़े ही आरंभ में अधिक सिद्धि की प्राप्ति हो।

वस्तु एक कों कीजिए, वर्नन ठौर अनेक।
नभ-ऊपर कंचनलता, कुसुम स्वच्छ है एक ॥१३२॥

शब्दार्थ—कंचनलता = सोने की लता (आकाश-गंगा)। कुसुम = पुष्प (चंद्रमा)।

भावार्थ—**तीसरा** वह है जहाँ एक ही वस्तु (का) अनेक स्थानों पर (होना) वर्णित हो। (पहले का उदा०) आकाश में सोने की लता फैली है जिसमें एक स्वच्छ पुष्प (चंद्र) लगा है।

सम०—यहाँ 'सोने की लता' (आधेय) आधार के विना आकाश में स्थित कही गई है।

कलपबृच्छ देख्यो सही, तोकों देखत नैन।
अंतर-बाहिर दिसि-बिदिसि, वहै तीय सुखदैन ॥१३३॥

शब्दार्थ—सही = ठीक, सचमुच। विदिसि=उपदिशाएँ (अग्नि, वायव्य, नैऋत्य और ईशान कोण)।

भावार्थ—(दूसरे का उदा०) तुझे नेत्र से देखते ही सचमुच कल्पवृक्ष देखने में आ जाता है। (तीसरे का उदा०—मन के) भीतर-बाहर, दिशा और विदिशा में (चारो ओर) वही सुख देनेवाली स्त्री (नायिका) दिखाई पड़ती है।

सम०—(पहले उदा० में) केवल किसी (राजा) के देखने से कल्पवृक्ष (जिसका देख सकना असंभव है उस) को देख लेना—थोड़े आरंभ से अधिक सिद्धि है। (दूसरे उदा० में) एक ही नायिका की अनेक स्थलों में स्थिति बतलाई गई है।

सूचना—कुछ लोग 'कल्पवृक्ष देख्यो०' को नायक का वचन नायिका प्रति भी मानते हैं।

व्याघातालंकार

व्याघात जु कछु और तें, कीजै कारज और ।
बहुरि विरोधी तें जबै, काज लाइए ठौर ॥१३४॥

भावार्थ—व्याघातालंकार दो प्रकार का होता है। पहला वह है जहाँ और कुछ (एक क्रिया) से (जो कार्य किया जाय उसी (क्रिया से) और कुछ (उसका विरोधी कार्य) भी किया जाय। दूसरा वह है जहाँ दो विरोधी क्रियाओं से एक ही कार्य एक स्थान पर लाया जाय (सिद्ध किया जाय)।

सुख पावत जासों जगत, तासों मारत मार ।
निहचै जानत बाल तौ, करत कहा परिहार ॥१३५॥

शब्दार्थ—मार = कामदेव । निहचै = निश्चय । बाल = बालक । परिहार = त्याग, छोड़ जाना ।

भावार्थ—(पहले का उदा०) जिन (कटाक्षों) से संसार सुख पाता है, उन्हीं (बाणों) से कामदेव (संसार को) मारता है (नायिकाओं के कटाक्ष की उपमा कामदेव के बाणों से दी जाती है, या कामदेव के बाण फूल के माने गए हैं—फूल सुखदायक होता है)। (दूसरे का उदा०—कोई राजा दिग्विजय के लिये बाहर जाना चाहता है, वह अपने पुत्र को यह कहकर घर पर छोड़े जा रहा है कि तू अभी बालक है। इसी के उत्तर में वह राजकुमार कहता है) यदि आप मुझे सचमुच बालक जानते तो छोड़कर न जाते (क्योंकि बालकों को साथ ही रखना चाहिए, कहीं छोड़ नहीं देना चाहिए—राजकुमार स्वयं युद्ध में लड़ने का इच्छुक है)।

सम०—(पहले में) 'कटाक्षों के द्वारा' एक ही क्रिया से सुख पाना और मारा जाना दो विपरीत कार्य होते दिखाए गए हैं। (दूसरे में)

१—मां।

'साथ में न ले जाना' और 'साथ में ले जाना' दो विरुद्ध क्रियाएँ एक ही कार्य 'बालकत्व' में दिखाई गई हैं (एक ही कार्य के लिए दो विरुद्ध क्रियाएँ सुगमता से लग गई हैं)।

सूचना—'व्याघात' शब्द का अर्थ है 'विशेष आघात अर्थात् टकराना'। इस अलंकार में एक ही क्रिया से दो विरोधी कार्यों का होना या दो विरोधी क्रियाओं से एक ही कार्य की सिद्धि ही विशेष आघात है।

गुंफालंकार[1]

कहिए गुंफ, परंपरा कारन की जवँ[2] होत।
नीतिहि धन, धन त्याग पुनि, तातें जस-उद्योत ॥१३६॥

शब्दार्थ—गुंफ = रचना, क्रम से किसी वस्तु का जोड़ना। परंपरा = श्रृंखला। उद्योत = उदय।

भावार्थ—जहाँ कारण की श्रृंखला दिखाई जाती है वहाँ **गुंफालंकार** होता है। जैसे, नीति से धन मिलता है, धन से त्याग होता है और त्याग से यश का उदय होता है।

सम०—यहाँ नीति धन का, धन त्याग का और त्याग यश का कारण है। इन कारणों की श्रृंखला जुटती चली गई है।

सूचना—'गुंफ' शब्द का अर्थ है 'गुथा हुआ'। इस अलंकार में कारण एक-दूसरे से गुथते चले जाते हैं। कहीं पहले कही वस्तुएँ कारण होती हैं (जैसा ऊपर के उदा० में है) अथवा कहीं पिछली वस्तुएँ कारण होती जाती हैं। इसे 'कारणमाला' भी कहते हैं।

एकावली अलंकार

गहत मुक्तपद रीति जब, एकावलि तब मानु।
दृग स्रुति लौं[3], स्रुति बाहु लौं, बाहु जानु[4] लौं जानु ॥१३७॥

१—कारणमालालंकार। २—कारनमाला। ३—पर। ४—जंघ।

शब्दार्थ—गहत = ग्रहण करना। मुक्त = छोड़ देना। स्तुति = कान। लौं = तक। जानु = घुटना। जानु = समझो।

भावार्थ—जहाँ गृहीत और मुक्त रीति से पद रखे जायँ वहाँ **एकावली** होती है। जैसे, उस (नायक) के नेत्र कानों तक (फैले हैं—विशाल हैं), कान बाहु तक (कंधे पर लटकते) हैं और बाहु घुटनों तक हैं (वह आजानुबाहु है)।

सम०—यहाँ 'स्तुति' शब्द गृहीत हुआ फिर छोड़ा गया, बाहु गृहीत हुआ फिर छोड़ा गया।

सूचना—'एकावली' का अर्थ है 'एक लर की माला'। जिस प्रकार माला में दाने (गुरिया) परस्पर सटे रहते हैं तथा एक के बाद दूसरा गृहीत और मुक्त होता है उसी प्रकार इस अलंकार में भी पद मुक्त-ग्राह्य होते रहते हैं।

मालादीपकालंकार

दीपक एकावलि मिलैं, मालादीपक नाम।
काम-धाम तिय-हिय भयौ, तिय-हिय को तू धाम ॥१३८॥

शब्दार्थ—काम = कामदेव। धाम = घर।

भावार्थ—जब दीपक और एकावली दोनों मिल जाते हैं तो **मालादीपक** होता है। जैसे, स्त्री (नायिका) का हृदय कामदेव का घर है और आप (नायक) स्त्री के हृदय के घर हैं।

सम०—(पहले यह जान रखना चाहिए कि इसमें एक पद का दो वाक्यों में अन्वय हो जाने से ही यहाँ 'दीपक' माना जाता है, वस्तुतः यहाँ 'दीपकालंकार' नहीं होता) इसमें 'काम का धाम तिय-हिय और तिय-हिय का (धाम) तू' कहने में दो वाक्यों का एक पद (धाम) से अन्वय होता है। इसके अतिरिक्त गृहीत-मुक्त रीति भी है।

सूचना—इस उदाहरण में दूसरा 'धाम' शब्द व्यर्थ है। इस शब्द के कारण अलंकार का लक्षण ठीक-ठीक घटने नहीं पाता।

सारालंकार

एक एक तें सरस जवं[1], अलंकार तवं[2] सार।
मधु सों मधुरी है सुधा, कविता मधुर अपार ॥१३९॥

शब्दार्थ—सरस = बढ़कर। मधु = शहद।

भावार्थ—जब एक से एक बढ़कर पदार्थों का (क्रम से) वर्णन हो तो **सारालंकार** होता है। जैसे, मधु से (अधिक) मधुर सुधा (अमृत) है और सुधा से अपार (बहुत अधिक) मधुर कविता है।

सम०—यहाँ एक के बाद एक बढ़कर वस्तुएँ (क्रम से) कही गई हैं (उत्तरोत्तर उत्कर्ष का वर्णन हुआ है)।

यथासंख्यालंकार

यथासंख्य वर्नन-विषे, वस्तु अनुक्रम संग।
करि अरि मित्त विपत्ति को, गंजन रंजन भंग ॥१४०॥

शब्दार्थ—विषे = (विषय) में। अनुक्रम = क्रमानुसार। करि = करो। अरि = शत्रु। मित्त = (मित्र)। गंजन = नष्ट करना। रंजन = प्रसन्न करना।

भावार्थ—जहाँ वर्णन करने में क्रमानुसार वस्तुएँ (अनुक्रम से ही) कही जायँ वहाँ **यथासंख्य** होता है। जैसे, शत्रु, मित्र और विपत्ति का गंजन, रंजन और भंजन करो।

सम०—यहाँ 'शत्रु, मित्र, विपत्ति' के ही क्रम से 'गंजन, रंजन और भंजन' भी है—शत्रु का गंजन, मित्र का रंजन और विपत्ति का भंग।

सूचना—'यथासंख्य' शब्द का अर्थ है 'संख्या के अनुसार'। जिस संख्या (क्रम) से वस्तुएँ कही गई हों उसी क्रम (अनुक्रम) से उनसे संबंध रखनेवाली वस्तुएँ कही जायँ। इसे 'क्रमालंकार' भी कहते हैं।

१—जहँ। २—तहँ।

पर्यायालंकार

है पर्याय, अनेक को क्रम सों आस्रय एक।
फिरि क्रम तें जब एक वह, आस्रय धरै अनेक ॥१४१॥

भावार्थ—पर्यायालंकार दो प्रकार का होता है। **पहला** वह है जहाँ अनेक वस्तुएँ क्रम से एक ही वस्तु में आश्रय ग्रहण करें। **दूसरा** वह है जहाँ एक ही वस्तु क्रम से अनेक का आश्रय ग्रहण करे।

हुती तरलता चरन मैं, भई मंदता आय।
अंबुज तजि तिय-बदन-दुति, चंदहि रही बनाय ॥१४२॥

शब्दार्थ—हुती = थी। तरलता = चंचलता। अंबुज = कमल।

भावार्थ—(पहले का उदा०) उस (नायिका) के चरणों में (लड़कपन में) चंचलता थी अब (युवावस्था में) मंदता आ गई है (चाल धीमी पड़ गई है)। (दूसरे का उदा०) अब नायिका के मुख की द्युति (शोभा) कमल (की समता) को छोड़कर चंद्रमा (की समता) को धारण कर रही है (पहले मुख कमल की तरह प्रफुल्लित रहता था, अब चंद्र की तरह देदीप्यमान रहता है)।

सूचना—'पर्याय' शब्द का अर्थ है 'अनुक्रम'। इस अलंकार में किसी वस्तु का अन्यत्र होना क्रमपूर्वक कहा जाता है।

परिवृत्ति अलंकार

परिवृत्ती लीजै अधिक, थोरोई कछु देइ।
अरि-इंदिरा, कटाच्छ सों[1] एक बान[2] दै लेइ[3] ॥१४३॥

शब्दार्थ- अरि-इंदिरा = शत्रु की लक्ष्मी। सों = (स्यों) सहित।

१—की। २—दृह। ३—इक सर टारें लेइ।

भावार्थ--जब थोड़ी वस्तु देकर अधिक वस्तु ली जाय तो **परिवृत्ति** होती है। जैसे, (वह वीर) कटाक्षपूर्वक एक बाण देकर (छोड़कर) शत्रु की लक्ष्मी ले लेता है (जिस समय वह नजर टेढ़ी करके बाण छोड़ता है शत्रु मारा जाता है और उसकी संपत्ति उसके पास आ जाती है)।

सम०—यहाँ 'बाण' थोड़ी वस्तु देकर 'लक्ष्मी' अधिक लेना कहा गया है।

सूचना—'परिवृत्ति' का अर्थ है 'अदला-बदला', 'लेन-देन'। कुछ लोग समान वस्तु के परिवर्तन में भी 'परिवृत्ति' मानते हैं। इसी को कुछ लोग 'विनिमय' भी कहते हैं।

परिसंख्यालंकार

परिसंख्या इक थल बरजि, दूजे थल ठहराय।
नेह हानि हिय मैं नहीं, भई दीप मैं जाय ॥१४४॥

शब्दार्थ—बरजि = वर्जन करके। नेह = (स्नेह) प्रेम, तेल।

भावार्थ—जहाँ किसी वस्तु का एक स्थान से वर्जन (निषेध) करके उसका स्थापन (नियंत्रण) दूसरे स्थान में किया जाय वहाँ **परिसंख्यालंकार** होता है। जैसे (वहाँ) स्नेह की हानि (कमी केवल) दीपकों में ही होती है, (प्रेमियों के) हृदय में नहीं।

सम०--यहाँ 'स्नेह की हानि' का 'हृदय' से निषेध करके उसका नियमन 'दीपकों' में कर दिया गया है।

सूचना—'परिसंख्या' शब्द का अर्थ है 'नियमन'।

विकल्पालंकार

है बिकल्प 'यह कै वहै', इहि विधि को बिरतंत।
करिहै दुख को अंत अब, जम कै प्यारो कंत ॥१४५॥

शब्दार्थ--बिरतंत = (वृत्तांत) वर्णन। जम = (यम) काल।

भावार्थ—जहाँ इस प्रकार का वर्णन किया जाय कि 'यह होगा या वह' वहाँ **विकल्पालंकार** होता है। जैसे, (कोई विरहिणी नायिका कहती है कि) मेरे दुःख का अंत अब या तो यम ही करेगा (प्राण लेकर) या पति ही करेगा (विदेश से लौट आकर)।

सम०—यहाँ 'यम' और 'पति' के बीच विकल्प वर्णित है।

सूचना—'विकल्प' में दो समान बलवाली वस्तुएँ रहती हैं, उन्हीं में विरोध रहता है। 'विकल्प' में यह निश्चय रहता है कि दो में से कोई एक अवश्य सफल होगा। 'संदेह' में अनिश्चय होता है। यही दोनों में भेद है।

समुच्चयालंकार

दोय समुच्चय, भाव बहु कहुँ उपजैं इक संग।
एक काज चाहै कर्‌यो, है अनेक इक अंग ॥१४६॥

शब्दार्थ—इक अंग = (एकांग) एक साथ।

भावार्थ—**समुच्चयालंकार** दो प्रकार का होता है। **पहला** वह है जहाँ एक साथ ही बहुत से भाव उत्पन्न हो जायँ। **दूसरा** वह है जहाँ एक कार्य को करने के लिये अनेक (कारण आ उपस्थित) हों (यद्यपि उसके संपन्न करने में कोई एक ही समर्थ हो)।

तुव अरि भाजत गिरत, फिरि भाजत हैं सतरायँ।
जोवन विद्या मदन धन, मद उपजावत आय ॥१४७॥

शब्दार्थ—सतराय = बुरा मानकर। मदन = काम।

भावार्थ—(पहले का उदा०) हे राजन्! आपके शत्रु भागते हैं, गिर पड़ते हैं, फिर बिगड़कर भागते हैं। (दूसरे का उदा०) यौवन, विद्या, काम और धन ये चारो मद उत्पन्न करते हैं।

सम०—यहाँ (पहले उदा० में) भागना, गिरना, बिगड़ना आदि

१—कहुँ इक उपजैं। २—सिर नाह।

कई भाव एक साथ कहे गए हैं। (दूसरे में) मद उत्पन्न करने के लिये कोई एक ही पर्याप्त है, पर यहाँ चारों कहे गए हैं।

कारकदीपकालंकार

कारकदीपक एक मैं, क्रम तें भाव अनेक।
जाति चितै, आवति, हँसति पूछति बातहु नेक ॥१४८॥

शब्दार्थ—नेक = थोड़ी, कुछ।

भावार्थ—जहाँ एक (पदार्थ या व्यक्ति) में क्रमपूर्वक अनेक भावों का होना वर्णित हो वहाँ **कारकदीपक** होता है। जैसे, (वह नायिका) देख जाती है (फिर) आती है, हँसती है और कुछ बातें भी पूछती है।

सम०—यहाँ देखना, आना आदि क्रियाएँ क्रमपूर्वक कही गई हैं।

समाधि अलंकार

सो समाधि कारज सुगम, और हेतु मिलि होत।
उत्कंठा तिय कों भई, अथयो दिन-उद्योत ॥१४९॥

शब्दार्थ—अथयो = अस्त हो गया। दिन-उद्योत = सूर्य।

भावार्थ—जहाँ अन्य हेतु के मिल जाने से कोई कार्य सुगम हो जाय वहाँ **समाधि** होती है। जैसे, स्त्री (नायिका) को (प्रिय से मिलने की) उत्कंठा हुई और (उसी समय) सूर्य अस्त हो गया।

सम०—यहाँ 'सूर्यास्त' अन्य कारण के मिल जाने से 'प्रिय से मिलने की उत्कंठा का पूर्ण होना' और सरल हो गया।

सूचना—'समाधि' शब्द का अर्थ है समर्थन। यहाँ अन्य हेतु आकर पहले कारण को बलवान कर देता है, यही समर्थन है।

प्रत्यनीकालंकार

प्रत्यनीक सो, प्रबल रिपु ता हित सों करि जोर ।
नैन-समीपी स्रवन पर, कंज चढ्यौ करि दोर ॥१५०॥*

शब्दार्थ—हित = हितैषी, मित्र । जोर = बल । दोर = आक्रमण ।

भावार्थ—जहाँ प्रबल शत्रु (से जीत न सकने के कारण उस) के मित्र (संबंधी) पर बल दिखाया जाय वहाँ **प्रत्यनीकालंकार** होता है। जैसे, (कोई नायिका कान में कमल का पुष्प खोंसे हुए है । उसे देखकर दूसरा व्यक्ति कहता है) कमल (अपने प्रबल शत्रु नेत्रों से न जीत सकने के कारण) नेत्र के समीप रहनेवाले कान पर बलपूर्वक चढ़ गया है (कमल नेत्रों की बराबरी नहीं कर सका, उनसे उपमा में हार गया इस लिये नेत्र उसके शत्रु कहे गए हैं) ।

सम०—यहाँ नेत्र प्रबल शत्रु के समीपी कान पर बल दिखलाया गया है ।

सूचना—'प्रत्यनीक' शब्द का अर्थ है 'अनीक (सेना) के प्रति'। राजा से न जीत सकने पर सेना (उसके निर्बल संबंधी) पर बल प्रयोग करना ।

काव्यार्थापत्ति अलंकार

काव्यार्थापति कों सबै, इहि बिधि बरनत जात ।
मुख जीत्यो वा चंद कों, कहा कमल की बात ॥१५१॥

शब्दार्थ—इहि बिधि = निम्नलिखित प्रकार से ।

भावार्थ—**काव्यार्थापत्ति** को सब लोग इस प्रकार कहते हैं (कि जब यह हो गया तो यह क्या है) । जैसे, जब (नायिका के) मुख ने

१—कहि कैमुतिक-न्याय कों, काव्यार्थापति गात ।

* यह दोहा कई प्रतियों में नहीं है ।

चंद्रमा को जीत लिया तो कमल की क्या बात (उसको जीतने में क्या रखा है— उसे जीतना सरल है)।

सूचना—'काव्यार्थापत्ति' में 'दंडापूपिका-न्याय' या 'कैमुक्त-न्याय' होता है। पहला न्याय यह है कि दंडा खींचने से उसमें बँधे या उस पर रखे पूए भी खिंच आते हैं। कैमुक्त-न्याय वह है जहाँ कहा जाय कि उसका क्या कहना (वह क्या है ?—कुछ नहीं)।

सम०—यहाँ 'चंद्रमा' अधिक गुणवाली वस्तु को जीत लेने से कम गुणवाली वस्तु 'कमल' भी दंडापूपिका-न्याय से जीत ली गई है।

काव्यलिंगालंकार

काव्यलिंग जब जुक्ति सों, अर्थ-समर्थन होय।
तोकों जीत्यो मदन ! जो, मो हिय मैं सिव सोय ॥१५२॥

भावार्थ—जब किसी अर्थ का समर्थन युक्तिपूर्वक किया जाय तो **काव्यलिंगालंकार** होता है। जैसे, (कोई नायिका कामदेव से कहती है कि) हे मदन ! स्मरण रखो कि मेरे हृदय में उन्हीं शिव का वास है जिन्होंने तुम्हें जीत लिया था (मुझे सताने का साहस मत करो, नहीं तो दुःख उठाओगे)।

सम०—यहाँ 'मदन को जीतना' इस अर्थ का समर्थन 'मेरे हृदय में शिव का वास है' इस वाक्य से किया गया है (अर्थात् मुझपर आक्रमण करना व्यर्थ है, मैं तुम्हें जीत लूँगी)।

सूचना—'काव्यलिंग' का अर्थ है 'काव्य का चिह्न (कारण)'। यहाँ 'ज्ञापक अथवा सूचक' कारण का प्रयोग होता है, 'कारक' का नहीं। 'ज्ञापक' कारण वह है जिससे किसी वस्तु का ज्ञान होता है। जैसे, अँधेरे में दीपक लेकर जाने से 'घड़ा' दिखाई पड़ा। यहाँ 'दीपक' घड़े का ज्ञापक कारण है। अग्नि से धुआँ उत्पन्न होता है। यहाँ 'अग्नि' कारक कारण है। उक्त उदाहरण में 'जीते जाने' का ज्ञापक हेतु 'हृदय में शिव का वास' है।

अर्थांतरन्यासालंकार

सामान्य तें बिसेष[1] दृढ़, तब अर्थांतरन्यासु।
रघुवर के वर गिरि तरे, बड़े करैं न कहा सु॥१५३॥

शब्दार्थ—वर = (बल) प्रताप।

भावार्थ—जहाँ सामान्य (कथन) द्वारा विशेष (कथन) को दृढ़ (समर्थन) किया जाय वहाँ अर्थांतरन्यास होता है। जैसे, रामचंद्र के प्रताप से (समुद्र में) पर्वत तैरने लगे। बड़े लोग क्या नहीं कर सकते ? (सब कुछ कर सकते हैं, असंभव को संभव कर देते हैं)।

सम०—यहाँ 'राम के प्रताप से पर्वतों का समुद्र में तैरना' विशेष कथन है (विशेष घटना है)। इसका समर्थन 'बड़े क्या नहीं कर सकते' इस सामान्य कथन (व्यापक घटना) से किया गया है।

सूचना—'अर्थांतरन्यास' शब्द का अर्थ है, अर्थांतर (दूसरे अर्थ) का न्यास (रखना)। इसमें एक वाक्य (विशेष या सामान्य) के साथ दूसरा अर्थ (सामान्य या विशेष) रखा जाता है।

जब सामान्य बात का समर्थन विशेष से होता है तब भी 'अर्थांतर-न्यास' ही होता है।

विकस्वरालंकार

विकस्वर होत बिसेष जब, फिरि सामान्य बिसेष।
हरि गिरि धार्‌यो, सत्पुरुष भार सहत, ज्यों सेष॥१५४॥

भावार्थ—जब विशेष बात कहकर उसका समर्थन सामान्य से किया जाता है और फिर उस (सामान्य) का समर्थन एक दूसरे विशेष से कर दिया जाता है तो उसे विकस्वर कहते हैं। जैसे, श्रीकृष्ण ने

१—विशेष। २—सामान्य।

(व्रज को बचाने के लिए) पर्वत (गोवर्धन) उठा लिया था (—विशेष वाक्य), अच्छे पुरुष (दूसरों के लिए) भार सहते हैं (—सामान्य वाक्य), जिस प्रकार शेषनाग (—विशेष वाक्य)।

सम०—यहाँ तीन वाक्य हैं। पहला विशेष, दूसरा सामान्य और तीसरा फिर विशेष। दूसरा पहले का समर्थन करता है और तीसरा दूसरे का।

सूचना—'विकस्वर' शब्द का अर्थ है 'विकसित होना'। इसमें विशेष अर्थ पुनः विकसित होता (रखा जाता) है।

प्रौढ़ोक्ति अलंकार

प्रौढ़-उक्ति उत्कर्ष कों, करै अहेतुहि हेत।
जमुना-तीर-तमाल सों, तेरे बार असेत ॥१५५॥*

शब्दार्थ—असेत = काले।

भावार्थ—जहाँ अहेतु (जो उत्कर्ष का हेतु नहीं है उस) को उत्कर्ष का हेतु मान लिया जाता है वहाँ **प्रौढ़ोक्ति** होती है। जैसे, तुम्हारे बाल यमुना के तीर के तमाल वृक्षों से भी (अधिक) काले हैं।

सम०—यहाँ 'तमाल' वृक्ष 'यमुनातट' के कहे गए हैं। यमुना-तट पर उत्पन्न होने से (यमुना की श्यामता के कारण) तमाल वृक्ष अधिक काले नहीं हो जाते, पर इस अहेतु को यहाँ उत्कर्ष का हेतु मान लिया गया है।

---

* इस दोहे के ये पाठांतर भी मिलते हैं—

(१) प्रौढ़-उकति बरनन-विषै, अधिकाई अधिकार।
केस-अमावस-रैन-घन, सघन तिमिरि के तार ॥

(२) प्रौढ़ोक्ती उत्कर्ष बिनु, हेतू बर्नन काम।
केस अमावस-रैनि-घन, सघन तिमिर सम स्याम ॥

सूचना—'प्रौढ़ोक्ति' शब्द का अर्थ है 'प्रकृष्ट कथन'। इस अलंकार में किसी वस्तु की प्रकृष्टता के लिए अहेतु की कल्पना होती है।

संभावनालंकार

'जौ यों होय तौ होय यों' संभावना-विचार।
वक्ता होतो सेप तो, लहतो तो[2] गुन-पार ॥१५६॥

शब्दार्थ—गुन-पार = गुणों का पार, गुणों का अंत।

भावार्थ—जहाँ यह कहा जाय कि यदि ऐसा होता तो ऐसा होता, वहाँ **संभावनालंकार** होता है। जैसे, (हे राजन्!) यदि शेष कहनेवाले होते (क्योंकि उनके हजार मुख हैं) तो आपके गुणों का पार पा सकते (आपके गुणों का वर्णन करने में समर्थ हो सकते—क्योंकि आपके गुण अत्यधिक हैं)।

सम०—यहाँ शेषनाग को वक्ता बनाकर संभावना की गई है।

मिथ्याध्यवसिति अलंकार

मिथ्याध्यवसिति कहत कछु, मिथ्या-कल्पन-रीति।
कर में पारद जौ रहै, करै नवोढ़ा प्रीति ॥१५७॥

शब्दार्थ—कर = हाथ। पारद = पारा। नवोढ़ा = नयी ब्याहकर आई पत्नी।

भावार्थ—मिथ्या कल्पना की रीति (जहाँ एक मिथ्या बात के समर्थन के लिए दूसरी मिथ्या बात कही जाय वहाँ) **मिथ्याध्यवसिति अलंकार** होता है। जैसे, यदि कोई अपने हाथ में पारा ले ले (उसको यदि हथेली में रखे रह सके) तो नवोढ़ा नायिका भी उससे प्रीति करने लगे।

सम०—यहाँ 'पारे का हाथ में रखना' मिथ्या बात है (क्योंकि पारा एक ऐसी चंचल वस्तु है जो हाथ में टिक नहीं सकती)। इस मिथ्या

१—यों कहै। २—जौ तौ लहतो।

बात के द्वारा नवोढ़ा नायिका की प्रीति की असत्य बात का समर्थन किया गया है (नवोढ़ा नायिका पति के निकट जाने से डरती है)।

सूचना—'मिथ्याध्यवसिति' शब्द का अर्थ है 'मिथ्या का निश्चय'। मिथ्या के द्वारा मिथ्या का निश्चय, यही इस अलंकार का मूल है।

ललितालंकार

ललित कह्यौ कछु चाहिए, ताही को प्रतिबिंबु।
सेतु बाँधि करिहैं कहा, अब तौ उतर्‍यौ अंबु ॥१५८॥

शब्दार्थ—सेतु = पुल। उतर्‍यौ = घट गया है। अंबु = जल।

भावार्थ—जो बात कहनी है यदि उसका प्रतिबिंब कहा जाय तो **ललितालंकार** होता है। जैसे, अब पुल बाँधने की क्या आवश्यकता, अब तो जल घट गया है (अर्थात् अब अधिक प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता, अब तो अड़चन दूर हो गई है)।

सम०—यहाँ कहना यह था कि अड़चन दूर हो गई, अधिक प्रयत्न की आवश्यकता नहीं; पर उसका प्रतिबिंब कहा गया है।

सूचना—(१) 'ललित' शब्द का अर्थ है 'चाहा हुआ'। यहाँ पर चाहे हुए अर्थ का प्रतिबिंब कहा जाता है।

(२) ऊपर के दोहे को नायक-नायिका-वृत्तांत में भी घटाया जाता है। सखी का वचन कलहांतरिता नायिका से है।

प्रहर्षणालंकार

तीनि प्रहर्षन जतन बिनु, बांछित फल जौ होय।
बांछितहू तें अधिक फल, स्रम बिनु लहिए सोय ॥१५९॥

भावार्थ—**प्रहर्षणालंकार** तीन प्रकार का होता है। **पहला** वह

है जहाँ इच्छित फल की प्राप्ति विना यत्न के ही हो जाय। **दूसरा** वह है जहाँ विना परिश्रम किए इच्छित फल से अधिक की प्राप्ति हो।

साधत जाके जतन कों, वस्तु चढ़ै कर तेइं[1]।
जाको चित चाहत हुतो[2], आई दूती वेइ[3] ॥१६०॥

शब्दार्थ—तेइ = वही। हुतो = था। वेइ = वही।

भावार्थ—**तीसरा** वह है जहाँ वही वस्तु हाथ लग जाय जिसके यत्न का साधन किया जा रहा हो। (पहले का उदा०) जिसको चित्त चाहता था (जिसकी मैं चिंता कर रहा था) वही दूती आ गई।

सम०—यहाँ विना यत्न के इच्छित दूती से नायिका की भेंट हो गई है।

दीपक को उद्यम कियो, तौ लौं उदयो भानु।
निधि-अंजन की औषधी, सोधत लह्यो निधानु[4] ॥१६१॥

शब्दार्थ—उदयो = उदित हो गया। निधि = खजाना। निधि-अंजन = वह अंजन जिसके आँखों में लगा लेने से गड़ा धन दिखाई देने लगता है। सोधत = खोजने में। निधानु = खजाना।

भावार्थ—(दूसरे का उदा०) जब तक (अंधकार के कारण) दीपक जलाने का उद्योग किया जा रहा था तब तक सूर्योदय हो गया। (तीसरे का उदा०) खजाना दिखा देनेवाले अंजन के लिये ओषधि (जड़ी) खोजते समय स्वयं खजाना ही मिल गया।

सम०—यहाँ (पहले उदा० में) दीपक के लिये उद्योग था, पर उससे अधिक लाभ 'सूर्योदय' हो गया। (दूसरे उदा० में) खजाना बतलानेवाले अंजन की ओषधि खोजी जा रही थी और खजाना ही मिल गया।

सूचना—'प्रहर्षण' का अर्थ है 'विशेष हर्ष का होना'। तीनों भेदों में ऐसी घटनाएँ होती हैं जिनसे (किसी व्यक्ति को) विशेष आनंद की प्राप्ति होती है।

१—सोइ। २—जाको चित में चाह भइ। ३—होइ। ४—निदानु।

विषादालंकार

सो बिषाद चित-चाह तें, उलटो कछु ह्वै जाय।
नीवी परसत स्रुति परी, चरनायुध धुनि आय ॥१६२॥

शब्दार्थ--नीवी = फुफुँदी। स्रुति = कान। चरनायुध = (चरण ही आयुध अर्थात् हथियार हैं जिसके) मुर्गा।

भावार्थ—जिस बात की चित्त में इच्छा है उससे यदि उलटा हो जाय तो **विषादनालंकार** होता है। जैसे, (नायक ने नायिका की) नीवी का ज्यों ही स्पर्श किया, त्यों ही उसके कानों में मुर्गे की ध्वनि (आवाज) सुनाई पड़ी (सवेरा हो गया)।

सम०—यहाँ नायक की इच्छा के विरुद्ध मुर्गे की बाँग सुनाई पड़ी (क्योंकि सवेरा हो जाने से नायिका का साथ छोड़ देना पड़ा)।

उल्लासालंकार

गुन औगुन जब एक तें, और धरै उल्लास।
न्हाइ संत पावन करैं, गंग्ा धरै इहि आस ॥१६३॥

शब्दार्थ—और = दूसरा। पावन = पवित्र।

भावार्थ—जब कोई किसी दूसरे के गुण या अवगुण को धारण करता है तो **उल्लासालंकार** होता है। जैसे, गंगा (अपने मन में) यह आशा करती हैं कि संत लोग मेरे (जल) में स्नान करके मुझे पवित्र करें।

सम०—यहाँ संतों के गुण को गंगा धारण करती है।

अवज्ञालंकार

होत अवज्ञा और के, लगैं न गुन अरु दोष।
परसि[1] सुधाकर-किरन कों[2], खुलै न पंकज-कोष ॥१६४॥

१—परत। २—तें।

शब्दार्थ—सुधाकर = चंद्रमा। कोष = भीतरी भाग।

भावार्थ—जहाँ दूसरे के गुण-दोष को दूसरा ग्रहण न करे वहाँ अवज्ञालंकार होता है। जैसे, चंद्रमा की किरणों को स्पर्श कर कमल-कोश नहीं खुलता।

सम०—यहाँ चंद्रमा के गुण को कमल नहीं ग्रहण करता।

सूचना—'अवज्ञा' शब्द का अर्थ है 'अनादर'। इस अलंकार में 'अनादर' का भाव दूसरे के गुण को स्वीकार न करना है।

अनुज्ञालंकार

होत अनुज्ञा दोष कों, जब लीजै गुन मानि।
होहु विपति जामें सदा, हिये चढ़ैं हरि आनि ॥१६५॥

भावार्थ—जहाँ (किसी उत्कृष्ट गुण के कारण) दोष को भी गुण मान लिया जाय वहाँ अनुज्ञालंकार होता है। जैसे, सदा मेरे ऊपर विपत्ति ही पड़े, क्योंकि (इससे) हृदय में भगवान आ जाते हैं (उनका ध्यान करना पड़ता है)।

सम०—यहाँ 'विपत्ति' दोष को गुण मान लिया गया है।

सूचना—'अनुज्ञा' का अर्थ है 'अनुमति' या 'अंगीकार'। इस अलं-कार में दोष को अंगीकार किया जाता है।

लेशालंकार

गुन में दोषरु, दोष में गुन-कल्पन सों लेष।
सुक ! यहि मधुरी वानि तें, बंधन लह्यौ विसेष ॥१६६॥

भावार्थ—जहाँ गुण में दोष और दोष में गुण की कल्पना की जाय वहाँ लेशालंकार होता है। जैसे, हे शुक, तुमने अपनी इसी मधुर

वाणी के कारण विशेष रूप से बंधन (का कष्ट) सहा (तुम मधुर बोलते हो इसीसे पकड़े जाते हो)।

सम०—यहाँ 'सुग्गे की मीठी वाणी' गुण में दोष की कल्पना की गई है।

सूचना—'लेश' का अर्थ है 'अंश'। यहाँ सुग्गे की मीठी बोली उसका अंश है। उसीका रोचकता से वर्णन है।

मुद्रालंकार

मुद्रा प्रस्तुत पद-विषै, औरै अर्थ-प्रकास।
अली जाइ किन पीउ तहँ, जहाँ रसीली वास[1] ॥१६७॥

शब्दार्थ—अली = सखी, भ्रमर। पीउ = पति।

भावार्थ—जहाँ प्रस्तुत पद (में) से किसी अन्य अर्थ का (भी) प्रकाश हो वहाँ **मुद्रालंकार** होता है। जैसे, हे सखी, प्रिय वहाँ क्यों नहीं जाता जहाँ उस रसीली (नायिका) का वास है।

सम०—यहाँ उक्त प्रस्तुत पदों के बीच अली (भ्रमर), जाइ (जाति—चमेली) पीउ (पिक—कोकिल), वास (सुगंध) शब्द ऐसे आए हैं जो वन के प्रसंग में लगते हैं।

सूचना—(१) 'मुद्रा' का अर्थ है 'मोहर'। जैसे किसी पत्र पर लगी किसी की मोहर देखते ही पता लग जाता है कि यह अमुक की है, उसी प्रकार 'मुद्रा' में कुछ बातें सूच्य होती हैं।

(२) 'मुद्रा' के दोहे का जो पाठांतर है वह कई प्रतियों में है। उसमें प्रकृत अर्थ के अतिरिक्त 'मराल' नामक एक विशेष प्रकार के दोहे का वर्णन है, यही मुद्रा है।

१—मन-मराल नीकैं धरत, तुव पद-पंकज आस।

रत्नावली अलंकार

रत्नावलि प्रस्तुत अरथ, क्रम तें औरहु नाम।
रसिक चतुरमुख लच्छिपति, सकल ज्ञान को धाम॥१६८॥

शब्दार्थ—चतुरमुख = चतुरों में मुख्य, ब्रह्मा। लच्छिपति = धनाढ्य, लक्ष्मीपति (विष्णु)।

भावार्थ—जहाँ प्रस्तुत अर्थ में क्रम से अन्य नाम भी प्रकट हों वहाँ **रत्नावली** होती है। जैसे, हे रसिक, आप चतुरमुख (चतुरों में प्रधान), लक्ष्मीपति (धनाढ्य) और संपूर्ण ज्ञान के धाम हैं।

सम०—यहाँ उक्त प्रस्तुत अर्थ में चतुरमुख (चतुर्मुख ब्रह्मा) लक्ष्मीपति (विष्णु) और सकल ज्ञान के धाम (शिव) में क्रम से अन्य नाम भी प्रकट होते हैं।

सूचना—'रत्नावली' का अर्थ है—रत्नों की पंक्ति, रत्नों को क्रम से सजाना। इसमें सूच्य बातें क्रम से आती हैं (शास्त्रादि में वर्णित क्रमानुसार)।

तद्गुणालंकार

तद्गुन तजि गुन आपनो, संगति को गुन लेय।
बेसर मोती अधर मिलि, पद्मराग-छवि देय॥१६९॥

शब्दार्थ—बेसर = बुलाक। पद्मराग = लाल मणि, माणिक।

भावार्थ—जहाँ कोई वस्तु अपना गुण (रंग) छोड़कर संगति की अन्य वस्तु का गुण ग्रहण करे वहाँ **तद्गुणालंकार** होता है। जैसे, बेसर का मोती (लाल रंग के) अधर से मिलकर पद्मराग मणि की भाँति शोभित हो रहा है।

सम०—यहाँ मोती ने अपना गुण (रंग) उज्ज्वलता छोड़कर संगति के अधर का गुण (लाल रंग) ग्रहण किया है।

सूचना—'तद्गुण' का अर्थ है 'उसका गुण' (दूसरे का गुण ग्रहण करना)।

पूर्वरूपालंकार

पूर्वरूप लै संग-गुन, तजि फिरि अपनो लेतु।
दूजे[1] जब गुन ना मिटै, किए मिटन को हेतु ॥१७०॥

भावार्थ—**पूर्वरूपालंकार** दो प्रकार का होता है। **पहला** वह है जहाँ कोई वस्तु संगति की वस्तु के लिए हुए गुण को त्यागकर फिर अपना गुण ग्रहण कर ले। **दूसरा** वह है जहाँ किसी गुण के मिटने का कारण होने पर भी वह गुण न मिटे।

सेष स्याम हो सिव-गरें, जस तें उज्जल होत।
दीप बढ़ाएँहू कियो, रसना-मनि उद्योत ॥१७१॥

शब्दार्थ—बढ़ाएँहू = बुझाने पर भी। रसना = करधनी।

भावार्थ—(पहले का उदा०) शेषनाग (जिनका रंग उज्ज्वल है वे नील कंठवाले) महादेव के गले में लगने से काले जान पड़ते थे (पर हे राजन् !) आपके यश से (क्योंकि यश का रंग उज्ज्वल माना गया है) वे पुनः उज्ज्वल हो गए। (दूसरे का उदा०) दीपक के बुझा देने पर भी घर में (नायिका की) करधनी की मणि के कारण उजाला बना रहा।

सम०—(पहले उदाहरण में) जो शेषनाग श्याम हो गए थे वे पुनः उज्ज्वल हो गए हैं। (दूसरे में) दीपक बुझने पर भी उजाला गुण बना रहा।

सूचना—'पूर्वरूप' का अर्थ है 'पहलेवाला रूप' (प्राप्त करना)। रूप के अंतर्गत (आकार, रंग, स्वभाव सब आ जाते हैं)।

अतद्गुणालंकार

सोइ अतदगुन संग तें, जब गुन लागत नाहिं।
पिय अनुरागी ना भयो, बसि रागी मन माहिं ॥१७२॥

१—दूजौ।

शब्दार्थ—रागी = प्रेमी।

भावार्थ—जब किसी के संग से किसी को गुण न लगे (कोई किसी दूसरे का गुण ग्रहण न करे तो) तो **अतद्‌गुणालंकार** होता है। जैसे, प्रिय मेरे अनुरागी मन में बसकर भी प्रेमी नहीं बना।

सम०—यहाँ प्रिय ने अनुराग गुण को ग्रहण नहीं किया।

अनुगुणालंकार

अनुगुन संगति तें जबै, पूरब गुन सरसाय।
मुक्तमाल हिय हास तें, अधिक स्वेत ह्वै जाय ॥१७३॥

शब्दार्थ—पूरब = पहले का (जो वस्तु में पहले से ही है)। सरसाय = बढ़े।

भावार्थ—जब किसी वस्तु की संगति से किसी वस्तु का गुण अधिक बढ़ जाय तो **अनुगुणालंकार** होता है। जैसे, हृदय (वक्षस्थल) में पड़ी हुई मोतियों की माला हास्य से (क्योंकि हँसी का रंग उज्ज्वल माना गया है) और अधिक उज्ज्वल हो जाती है।

सम०—यहाँ 'मुक्तमाल' का गुण उज्ज्वलता हास्य के गुण से और अधिक बढ़ गया है।

सूचना—'अनुगुण' शब्द का अर्थ है 'गुण का बढ़ना'।

मीलितालंकार

मीलित सोइ सादृस्य तें, भेद जबै न लखाय।
अरुन-बरन तिय-चरन पर, जावक लख्यो न जाय ॥१७४॥

शब्दार्थ—अरुन-बरन = लाल रंगवाले। जावक = महावर।

१—दून।

भावार्थ—जब सादृश्य के कारण (दो वस्तुओं के मिल जाने पर) उनका भेद न लक्षित हो तो **मीलितालंकार** होता है। जैसे, नायिका के लाल रंग के चरणों पर लगा हुआ महावर जान नहीं पड़ता।

सम०—यहाँ लाल रंग के चरणों में लाल रंगवाला महावर ऐसा मिल गया है कि दोनों का भेद ही नहीं जान पड़ता।

सूचना—'मीलित' शब्द का अर्थ है 'मिला हुआ'।

सामान्यालंकार

सामान्य जु सादृस्य तें, जानि परै न विसेप।
नाहिं फरक स्रुति[1]-कमल अरु, तियलोचन अनिमेष ॥१७५॥

शब्दार्थ—फरक = भेद। स्रुति = कान। अनिमेप = जिनकी पलकें नहीं पड़तीं।

भावार्थ—जहाँ सादृश्य के कारण दो विशेप पदार्थों में भेद न लक्षित हो वहाँ **सामान्य** होता है। जैसे, कान में खोंसे हुए कमल और निर्निमेप नेत्रों में कोई भेद ही नहीं जान पड़ता।

सम०—यहाँ नेत्र और कान में खोंसा कमल ये दो विशेप हैं। इनमें सादृश्य से भेद नहीं प्रकट होता।

उन्मीलितालंकार

उन्मीलित सादृस्य तें, भेद फुरै तब मानि।
कीरति-आगे तुहिन गिरि, छुए परत पहिचानि ॥१७६॥

शब्दार्थ—फुरै = प्रकट हो, जाना जाय। तुहिन = वर्फ।

भावार्थ—जब (किसी युक्ति से उक्त) सादृश्य के द्वारा उत्पन्न (भ्रम मिटकर) किसी प्रकार भेद प्रकट हो जाय तो उसे **उन्मीलिता-**

१—कछु।

लंकार कहते हैं। जैसे, कीर्ति की उज्ज्वलता में बर्फ का उज्ज्वल पर्वत ऐसा मिल गया है कि स्पर्श करने से जान पड़ता है (कि यह पर्वत है)।

समः—यहाँ स्पर्श के कारण पर्वत का भेद लक्षित हो जाता है।

विशेषकालंकार

यह विसेपक विसेप पुनि, फुरै जु समता माँझ।
तियमुख अरु पंकज लखे, ससि-दर्सन तें साँझ ॥१७७॥

शब्दार्थ—फुरै = प्रकट हो, जाना जाय।

भावार्थ—जहाँ सादृश्य के कारण उत्पन्न भ्रम किसी प्रकार लक्षित हो जाय वहाँ **विशेषकालंकार** होता है। जैसे, नायिका के मुख और पंकज को (देखने से दोनों में साम्यभाव स्थापित हो जाता है, पर) शशि के उदय होने पर सायंकाल (कमलों को) देखने से दोनों का भेद प्रकट हो गया (अर्थात् कमल सायंकाल मुरझाने लगता है और मुख में कोई परिवर्तन नहीं होता)।

समः—यहाँ कमल और मुख एक-दूसरे से भिन्न नहीं हो रहे थे, पर चंद्र के उदय होने से वह कार्य सरलतापूर्वक हो गया। क्योंकि कमल मुरझा गए, मुख फिर भी प्रफुल्लित रहा।

गूढ़ोत्तरालंकार

गूढ़ोत्तर कछु भाव तें, उत्तर दीन्हे होत।
उत बेतस-तरु मैं पथिक, उतरन-लायक सोत ॥१७८॥

शब्दार्थ—उत = वहाँ। बेतस = बेंत। सोत = (स्रोत) नदी की धारा।

भावार्थ—जहाँ किसी (गूढ़) भाव से युक्त उत्तर दिया जाय वहाँ **गूढ़ोत्तर** होता है। जैसे, (किसी स्त्री से नदी का मार्ग पूछने पर वह

उत्तर देती है कि) हे पथिक ! बेंत के वृक्षों में से होकर नदी-तट को उतरने योग्य मार्ग है ।

सम०—यहाँ बेंत के वृक्षों की ओर का मार्ग बतलाने में गूढ़ भाव है (अर्थात् वह स्थल स्मरण करने योग्य है) ।

चित्रालंकार

चित्र, प्रस्न उत्तर दुहूँ, एक वचन मैं सोय ।
मुग्धा तिय की केलि-रुचि, गेहँ[1] कोन मैं होय ॥१७९॥

शब्दार्थ—कोन = कौन, कोना ।

भावार्थ—जहाँ एक ही वचन में प्रश्न और उत्तर हो जाय वहाँ **चित्रालंकार** होता है । जैसे, (प्रश्न—) मुग्धा नायिका की केलि की इच्छा किस घर में होती है ? (उत्तर—) मुग्धा की केलि-रुचि घर के कोने में होती है ।

सम०—यहाँ 'गेह कोन मैं होय' प्रश्न का उत्तर 'गेह कोन मैं होय' है ।

सूक्ष्मालंकार

सूछम पर-आसय लखें, सैननि मैं कछु भाय ।
मैं देख्यो उहिं सीसमनि, केसनि लियो छपाय ॥१८०॥

शब्दार्थ—पर-आसय = दूसरे का भाव । सैन = संकेत । सीसमनि = मस्तक का एक गहना ।

भावार्थ—जहाँ किसी दूसरे के भाव को समझकर संकेत के द्वारा कोई भाव प्रकट किया जाय वहाँ **सूक्ष्मालंकार** होता है । जैसे, (कोई किसी को उक्त प्रकार का संकेत करते देखकर कह रहा है) मैंने देखा कि उसने शीशमणि को अपने केशों में छिपा लिया ।

१—भौन ।

सम०—यहाँ किसी ने यह जानने की इच्छा की होगी कि (नायक से) भेंट कब होगी। उसका उत्तर 'शीशमणि को अपने केशों में छिपा-कर' इस संकेत से दिया गया है (अर्थात् सूर्य के डूबने पर भेंट होगी)। यहाँ शीशमणि सूर्य का द्योतक है और काले केश अंधकार के सूचक हैं (जब सूर्य अंधकार में लीन होगा, डूब जायगा)।

पिहितालंकार

पिहित छिपी पर-बात कों, जानि दिखावै भाय।
प्रातहि आए, सेज पिय, हँसि दाबति तिय पाय ॥१८१॥

शब्दार्थ—सेज =(शय्या)।

भावार्थ—जहाँ किसी की छिपी (गुप्त) बात को जानकर कोई (छिपा) भाव प्रकट किया जाय वहाँ **पिहितालंकार** होता है। जैसे, (सौत के घर में रातभर रहकर) पति के प्रातःकाल घर आने पर नायिका ने चटपट शय्या बिछा दी और हँसकर उसका पैर दाबने लगी (अर्थात् आप जागने के कारण श्रांत होंगे, आराम कर लीजिए)।

सम०—यहाँ पति के लिये शय्या बिछाकर हँसते हुए पैर चापने लगना, इस बात का संकेत है कि आप रात में सपत्नी के घर में थे यह मैंने जान लिया।

सूचना—'पिहित' का अर्थ है—ढका हुआ, छिपा हुआ।

व्याजोक्ति अलंकार

व्याजोक्ती कछु और विधि, कहै दुरै आकार।
सखि सुक कीन्ह्यो कर्म यह, दंतनि जानि अनार ॥१८२॥

शब्दार्थ—दुरै = छिपाकर।

भावार्थ—जहाँ अपने आकार को छिपाकर उसका हेतु कुछ और ही

बता दिया जाय वहाँ **व्याजोक्ति** होती है। जैसे, (किसी के ओठ में दंत-क्षत है। वह उसको छिपाने के लिये कहती है) हे सखि, सुग्गे ने मेरे दाँतों को अनार समझ लिया था। उसी ने यह कर्म किया है (उसी ने ओठ में चोंच मार दी है)।

सम०—यहाँ दंतक्षत को छिपाकर उसका कारण सुग्गे का चोंच मारना कहा गया है।

सूचना—'व्याजोक्ति' का अर्थ है बहाने का कथन।

गूढ़ोक्ति अलंकार

गढ़-उक्ति मिस और[1] के, कीजै पर-उपदेस।
कालिह सखी हौं जाउँगी, पूजन देव महेस ॥१८३॥

भावार्थ—जहाँ किसी दूसरे के बहाने से किसी दूसरे को उपदेश दिया जाय (कोई बात सूचित की जाय) वहाँ **गूढ़ोक्ति** होती है। जैसे, हे सखी, मैं कल महादेव का पूजन करने जाऊँगी।

सम०—यहाँ बात कही तो जा रही है सखी से पर कहनेवाली (निकट में स्थित) नायक को बतला रही है कि कल महादेव के मंदिर में भेंट होगी।

विवृतोक्ति अलंकार

स्लेष छप्यो परगट किएँ[2], बिवृतोक्ति है ऐन।
पूजन[3] देव महेस कों, कहति दिखाए सैन ॥१८४॥

शब्दार्थ—ऐन = ठीक।

भावार्थ—जहाँ छिपा हुआ श्लेष (गुप्त भाव, कवि के द्वारा) प्रकट

१—आन। २—कीन्हे प्रगट। ३—पूजति।

कर दिया जाय वहाँ **विवृतोक्ति** होती है। जैसे, मैं महादेव का पूजन करने जाऊँगी ऐसा कहकर उसने संकेत-स्थल दिखला (बतला) दिया।

सम०—यहाँ कवि ने भाव प्रकट कर दिया है।

सूचना—'विवृतोक्ति' में 'विवृत' शब्द का अर्थ है, स्पष्टता, उद्घाटन।

युक्ति अलंकार

वहै जुक्ति कीन्हें क्रिया, मर्म छिपायो जाय।
पीय चलत आँसू चले, पोंछत[1] नैन जँभाय ॥१८५॥

भावार्थ—जहाँ कोई क्रिया करके मर्म छिपाया जाय वहाँ **युक्ति** होती है। जैसे, पति के विदेश जाते समय नायिका के नेत्रों में आँसू बहने लगे। (जब किसी ने देख लिया तो वह छिपाने के लिये) नेत्र के आँसुओं को पोंछती हुई जँभाई लेने लगी।

सम०—यहाँ प्रिय-वियोग के कारण निकलनेवाले आँसुओं का मर्म जँभाई लेकर छिपाया गया है (अर्थात् मेरे नेत्र में आँसू जँभाई लेने से आ रहे हैं, पति के विदेश-गमन से नहीं)।

लोकोक्ति अलंकार

लोकोक्ती कछु वचन जो, लीन्हे[2] लोक-प्रवाद।
नैन मूँदि पटमास लौं, सहि यों विरह-विपाद ॥१८६॥

शब्दार्थ—लोक-प्रवाद = कहावत। सहि = सहो।

भावार्थ—जहाँ किसी बात में लोक-प्रवाद (कहावत) हो वहाँ **लोकोक्ति** होती है। जैसे, छः महीने का विरह का दुःख तो तुम आँख मूँद-कर सह लोगी (छः महीने तो आँख मूँदने में-अति शीघ्र-बीत जायँगे)।

१-पूँछत। २-में लीजे, सो लीन्हें।

सम०—यहाँ 'आँख मूँदकर विता लेना' लोक-प्रवाद (कहावत—कहने का ढंग) है।

सूचना—वस्तुतः यह 'मुहावरा' है, कहावत नहीं। भाषा-भूषणकार ने इसे 'चंद्रालोक' के आधार पर लिखा है (सहस्व कतिचिन्मासान्मील यित्वा त्रिलोचने)। संस्कृत का ही आधार रखने से यह दोहा देखने में सुस्पष्ट नहीं जान पड़ता।

छेकोक्ति अलंकार

लोकोक्तिहिं कछु अर्थ सों, सो छेकोक्ति प्रमानि।
जो गायन कों फेरिहै, ताहि धनंजय जानि ॥१८७॥

शब्दार्थ—सों = सहित। धनंजय = अर्जुन।

भावार्थ—जहाँ कुछ अर्थ-सहित (अर्थांतरगर्भित) 'लोकोक्ति' हो वहाँ छेकोक्ति होती है। जैसे, जो गायों को फेर ले आवे उसी को अर्जुन समझना चाहिए (अर्थात् वीर बनने के लिये कुछ शक्ति दिखाने की भी आवश्यकता है)।

सम०—यहाँ गायों को लौटा लानेवाला ही अर्जुन है, इस लोकोक्ति में यह अभिप्राय भी छिपा है कि वीरता दिखानेवाला वीर कहा जाता है।

सूचना—(१) अज्ञातवास में विराट् के यहाँ एक बार अर्जुन ने कौरवों के द्वारा हरण की जानेवाली गायों को उनसे छीन लिया था।

(२) कुछ लोग उक्त उदाहरण को नायिका के संबंध में भी लगाते हैं। नायिका 'प्रवत्स्यत्पतिका' है। नायक के न लौट सकने की बात निश्चित समझकर सखी से कहती है।

(३) 'छेकोक्ति' में 'छेक' शब्द का अर्थ है 'चतुर'। इसमें 'चातुर्य' रहता ही है।

१—छेकोक्ती जिय मान।

वक्रोक्ति अलंकार

वक्रोक्ती स्वेर स्लेप सों, अर्थ-फेर जो होय।
रसिक अपूरब हौ पिया, बुरो कहत नहिं कोय ॥१८८॥

शब्दार्थ—स्वर = बोली, कंठध्वनि।

भावार्थ—जहाँ कंठध्वनि (काकु) या श्लेष के द्वारा अर्थ पलट जाय वहाँ **वक्रोक्ति** होती है। जैसे, हे प्रिय, आप बड़े अपूर्व रसिक हैं! आपको कौन बुरा कहता है? (अर्थात् आप अच्छे रसिक नहीं हैं और आपको सभी बुरा कहते हैं)।

सम०—यहाँ कंठध्वनि के द्वारा अर्थ उलट दिया गया है।

सूचना—'वक्रोक्ति' शब्द का अर्थ है वक्र अर्थात् टेढ़ी उक्ति। इस अलंकार में उक्ति की वक्रता दिखाई जाती है। स्मरण रखना चाहिए कि दूसरे की ही उक्ति को वक्र करने (उसका अर्थ बदल देने) में 'वक्रोक्ति' होती है। अपनी उक्ति को वक्र करने में व्यंग्य होता है, अलंकार नहीं। इसीसे ऊपर का उदाहरण व्यंग्य के अंतर्गत जायगा।

स्वभावोक्ति अलंकार

स्वभावोक्ति वह जानिए, वर्नत जाति-सुभाय।
हँसि-हँसि उझकति फिरि हँसति, मुँह मोरति इतराय ॥१८९॥

शब्दार्थ—उझकति = गिर-गिर सी पड़ती है। इतराना = अभिमान-पूर्वक इठलाना।

भावार्थ—जहाँ किसी की जाति या स्वभाव का वर्णन किया जाय वहाँ स्वभावोक्ति होती है। जैसे, (वह परकीया नायिका) हँस-हँस कर उझकती है, फिर हँसती है और मुख मोड़कर इतराती है।

सम०—यहाँ परकीया नायिका का स्वभाव वर्णित है।

१—काकु।

भाविकालंकार

भाविक भूत भविष्य जो, परतछ कहै बताइ[1] ।
बृंदावन मैं आज वह, लीला देखी[2] जाइ ॥१९०॥

शब्दार्थ—परतछ = प्रत्यक्ष ।

भावार्थ—जहाँ भूत (बीती हुई) या भविष्य की (आनेवाली) घटना का वर्णन प्रत्यक्ष (वर्तमानवत्) कहा जाय वहाँ **भाविकालंकार** होता है । जैसे, बृंदावन में आज भी (श्रीकृष्ण की) वह लीला देखी जाती है ।

सम०—यहाँ भूतकाल की घटना प्रत्यक्षवत् वर्णित हुई है ।

सूचना—'भाविक' शब्द का अर्थ है 'भाव की रक्षा' । यहाँ भावी और भूत भाव की रक्षा की जाती है ।

उदात्तालंकार

उपलच्छन दै सोधिए, अधिकाई सु उदात ।
तुम जाके वस होत हौ, सुनत तनक-सी बात ॥१९१॥

शब्दार्थ—उपलच्छन = अंग, अंश । सोधिए = वर्णन कीजिए ।

भावार्थ—जहाँ किसी का उपलक्षण (अंग) बनाकर किसी की अधिकता का वर्णन किया जाय वहाँ **उदात्तालंकार** होता है । जैसे, (यह वह नायिका है) जिसकी थोड़ी सी बात सुनकर तुम उसके वश में हो जाते हो ।

सम०—यहाँ 'नायक का थोड़ी सी बात सुनकर वश में होना' उपलक्षण है । इसके द्वारा नायिका की अधिकता सूचित होती है (वह कोई मामूली व्यक्ति नहीं है, आप-ऐसे यों ही उसके वश में हो जाते हैं) ।

१—होय बनाय । २—देखो ।

सूचना—'उदात्त' शब्द का अर्थ है 'संदेह-रहित ज्ञान के लिये कथित अर्थ'। यहाँ उपलक्षण के द्वारा संदेह-रहित ज्ञान कराया जाता है।

अत्युक्ति अलंकार

अलंकार अत्युक्ति वह, बरनत अतिसय रूप।
जाचक तेरे दान तें, भए कल्पतरु भूप ॥१९२॥

भावार्थ—जहाँ किसी के रूप का अतिशय (सबसे बढ़कर) वर्णन किया जाय वहाँ अत्युक्ति होती है। जैसे, हे राजन्, तेरे दान से याचक भी कल्पवृक्ष हो गए हैं (अब वे भी दूसरों को मनवांछित दान दे सकते हैं)।

सम०—यहाँ याचकों को कल्पवृक्ष कहकर राजा के दान की अतिशयता प्रकट की गई है।

निरुक्ति अलंकार

सो निरुक्ति जब जोग तें, अर्थ-कल्पना आन।
ऊधो कुबजा-बस भए, निर्गुन वहै निदान ॥१९३॥

शब्दार्थ—निदान = कारण।

भावार्थ—जब किसी योग के कारण (कोई विशेष जोड़-तोड़ पाकर किसी नाम का) कोई अन्य अर्थ कल्पित किया जाय तो निरुक्ति होती है। जैसे, (गोपिकाएँ उद्धव से कहती हैं) हे ऊधो, हमें जान पड़ता है कि श्रीकृष्ण कुब्जा (कुबड़ी) के वश में हो गए हैं इसी से उनका नाम निर्गुण (गुणहीन) हो गया है (यदि उनमें गुणों की पहचान होती तो वे कुबड़ी के वश में न होते)।

सम०—यहाँ 'निर्गुण' शब्द का अर्थ जोड़-तोड़ से 'गुणहीन' किया है। यद्यपि इसका अर्थ है गुण (सत्त्व, रज, तम) से निर्लिप्त।

सूचना—'निरुक्ति' का अर्थ है 'युक्ति या योजना'।

प्रतिषेधालंकार

सो प्रतिषेध प्रसिद्ध[1] जो, अर्थ निषेध्यो जाय।
मोहन-कर मुरली नहीं, है कछु[2] बड़ी बलाय ॥१९४॥

भावार्थ—जहाँ किसी प्रसिद्ध अर्थ (निषेध) का (किसी विशेष अभिप्राय से पुनः) निषेध किया जाय वहाँ **प्रतिषेधालंकार** होता है। जैसे, श्रीकृष्ण के हाथ में मुरली नहीं है, यह कोई बड़ी बला है।

सम०—यहाँ 'मुरली' इस प्रसिद्ध अर्थ का निषेध किया गया है।

सूचना--(१) 'प्रतिषेधालंकार' का यह उदाहरण ठीक नहीं है। 'प्रतिषेध' में किसी निषिद्ध अर्थ का पुनः निषेध किसी विशेष अर्थ के प्रतिपादन के विचार से किया जाता है। शुद्ध उदाहरण यों होगा—

'दसमुख ! लरिबो राम सों, यह न चोरिबो नारि।'

यहाँ कहा गया है कि लड़ना स्त्री चुराना नहीं है। स्त्री चुराना अर्थ पहले से निषिद्ध है। उसका फिर से निषेध इसलिये किया गया है कि लड़ने में अत्यंत बल और कौशल दिखाने की आवश्यकता होती है। ऊपर का उदाहरण यदि इस प्रकार होता कि यह बला नहीं, मुरली है, तो प्रतिषेध बन जाता; पर वैसी दशा में दोहे का अर्थ बेतुका हो जाता।

(२) 'प्रतिषेध' का अर्थ है 'निषिद्ध का पुनः निषेध'।

विधि अलंकार

अलंकार विधि, सिद्ध जो अर्थ साधिए फेर।
कोकिल है कोकिल जबै, ऋतु मैं करिहै टेर ॥१९५॥

भावार्थ—जहाँ किसी सिद्ध अर्थ को (किसी विशेष अभिप्राय से) फिर से सिद्ध (विधान) किया जाय वहाँ **विधि** अलंकार होता है। जैसे, वही कोकिल कोकिल है जो (वसंत) ऋतु में टेर करे (मीठी वाणी बोले)।

१—निषेध। २—कछु एक।

सम०—यहाँ 'कोकिल' सिद्ध अर्थ है पर इसको फिर से साधा (सिद्ध किया) गया है । 'वसंत ऋतु में बोलना' अभिप्रायांतर है ।

सूचना—'विधि' का अर्थ है 'विधान' । यहाँ किसी सिद्ध अर्थ का पुनः विधान होता है ।

हेतु अलंकार

हेतु अलंकृत दोय जब, कारन-कारज संग ।
कारन-कारज ये जबै, बसत एक ही संग ॥१९६॥

भावार्थ—हेतु अलंकार दो प्रकार का होता है । पहला वह है जहाँ कारण और कार्य का साथ वर्णन हो । दूसरा वह है जहाँ कारण और कार्य एक ही संग रहें ।

उदित भयो ससि, मानिनी-मान-मिटावन मानि ।
मेरी वृद्धि समृद्धि यह, तेरी कृपा बखानि ॥१९७॥

शब्दार्थ—मानि = मानो । समृद्धि = ऐश्वर्य ।

भावार्थ—(पहले का उदा०) चंद्रमा मानिनी का मान छुड़ाने के लिये उदय हुआ है । (दूसरे का उदा०) आपकी कृपा ही मेरी वृद्धि और समृद्धि है ।

सम०—यहाँ (पहले में) 'शशि का उदय' कारण और 'मान मिटना' कार्य है । इन दोनों का वर्णन साथ हुआ है । (दूसरे में) कृपा वस्तुतः वृद्धि और समृद्धि का कारण है । पर उसे ही वृद्धि-समृद्धि-रूप कहा गया है ।

इति अर्थालंकार-नाम चतुर्थः प्रकाशः ।

अथ शब्दालंकार-नाम पंचमः प्रकाशः

छेकानुप्रासालंकार

आवृति वर्न अनेक की, दोय-दोय जब होय।
है छेकानुप्रास, स्वर-समता विनहू सोय ॥१९८॥

भावार्थ—जब दो-दो शब्दों में अनेक वर्णों की आवृत्ति हो, चाहे उनमें स्वर-समता हो (स्वर मिले, या न हो) तो **छेकानुप्रास** होता है।

अंजन लाग्यो है अधर, प्यारे नैननि पीक।
मुकुत-माल उलटी प्रगट, कठिन हिये पर ठीक ॥१९९॥

भावार्थ—(खंडिता नायिका नायक से कह रही है) अधरों में अंजन लगा है। हे प्रिय, नेत्रों में पान की पीक लगी है। मोतियों की माला भी आपके कठिन हृदय पर ठीक उलटी प्रकट है (आलिंगन करने से मोतियों की छाप उभड़ आई है)।

सम०—यहाँ 'अंजन अधर' में 'अ', 'प्यारे पीक' में 'प', 'मुकुत' माल' में 'म', 'उलटी प्रकट' में 'ट' का छेकानुप्रास है (कहीं भी अक्षरों का स्वर समान नहीं है)।

सूचना—'छेकानुप्रास' में 'छेक' शब्द का अर्थ हैं 'चतुर'। इस अनुप्रास का व्यवहार चतुरों से ही आरंभ हुआ है। 'अनुप्रास' शब्द का अर्थ है अनु अर्थात् वारंवार और प्रास अर्थात् रखना। इसमें कोई अक्षर वारंवार रखा जाता है (दूसरी वार आता है)।

लाटानुप्रासालंकार

सो लाटानुप्रास जब, पद की आवृति होय।
सब्द अर्थ के भेद सों, भेद बिनाहू सोय ॥२००॥

भावार्थ—जहाँ पदों की (अक्षरों की नहीं) आवृत्ति हो और शब्द एवं अर्थ में भेद न रहने पर भी (अन्वय करने से) भेद हो जाय वहाँ **लाटानुप्रास** होता है।

पीय निकट जाके, नहीं घाम चाँदनी ताहि।
पीय निकट जाके नहीं, घाम चाँदनी ताहि ॥२०१॥

भावार्थ—प्रियतम जिसके निकट है उसके लिये घाम भी चाँदनी की भाँति (शीतल) है और प्रियतम जिसके निकट नहीं है उसके लिये चाँदनी भी घाम की तरह (तापकारक) है।

सम०—दोनों पंक्तियों के शब्द और उनके अर्थ एक ही हैं। पर अन्वय करने पर दोनों (के तात्पर्य) में भेद हो गया है।

सूचना—इस 'अनुप्रास' का व्यवहार 'लाट देश' (वर्तमान अहमदाबाद के निकट) के लोग करते थे इसीसे इसका नाम 'लाटानुप्रास' है।

यमकानुप्रासालंकार

जमक, सब्द को फिरि स्रवन, अर्थ जुदा सो जानि।
सीतल चंदन चंद नहिं, अधिक अग्नि तें जानि ॥२०२॥

भावार्थ—जहाँ किसी शब्द का फिर श्रवण हो (कोई शब्द फिर सुन पड़े अर्थात् दूसरी बार आए) पर उसका अर्थ भिन्न हो तो **यमक** होगा। उस विरहिणी नायिका को न चंद्र ही शीतलता प्रदान करता है न चंदन ही। इन्हें अग्नि से भी अधिक (तापकारक) जानो।

सम०—यहाँ 'चंदन' शब्द दूसरी बार आया है पर उसका अर्थ पहले से भिन्न है।

वृत्त्यनुप्रासालंकार

प्रति अच्छर आवृत्ति बहु, वृत्ति तीनि विधि मानि।
मधुर बरन जामैं सबै, उपनागरिका जानि ॥२०३॥

भावार्थ—जहाँ प्रत्येक अक्षर की बहुत-सी आवृत्ति हो वहाँ **वृत्त्यनुप्रास** होती है। वृत्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं। जहाँ सभी मधुर वर्ण (की आवृत्ति) हो वहाँ **उपनागरिका** वृत्ति होती है।

दूजैं परुषा कहत सब, जामैं बहुत समासु।
बिनु समास बिनु मधुरता, कहै कोमला तासु ॥२०४॥

भावार्थ—जिसमें बहुत समास हों उसे **परुषा** वृत्ति कहते हैं। जहाँ समास न हो और मधुर वर्ण भी न हों उसे **कोमला** वृत्ति कहेंगे।

अति कारी भारी घटा, प्यारी बारी बैस।
पिय परदेस अँदेस यह, आवत नाहिं सँदेस ॥२०५॥

शब्दार्थ—बारी = छोटी। बैस = अवस्था। अंदेस = अंदेशा, आशंका।

भावार्थ—हे प्रिय सखी, मेरी अवस्था छोटी है, अत्यंत काली और भारी घटा छा रही है। प्रिय परदेश में है और इतने पर अँदेसे की बात यह है कि संदेश भी नहीं आ रहा है (मैं किस प्रकार धैर्य धारण करूँ)।

सम०—यहाँ 'कारी, भारी, बारी' तथा 'परदेस, अँदेस, सँदेस' में अक्षरों की कई आवृत्तियाँ हुई हैं। इस दोहे में मधुर अक्षर भी हैं इससे यह **उपनागरिका** वृत्ति है।

कोकिल-चातक-भृंग-कुल-केकी-कठिन-चकोर।
सोर सुने धरक्यो हियो, काम-कटक अति जोर ॥२०६॥

शब्दार्थ—केकी = मोर। कटक = सेना।

भावार्थ—कोकिल, चातक, भौंरा, मोर और चकोर का कठोर शब्द सुनकर हमारा (विरहिणी का) हृदय धड़क गया, कामदेव की सेना बड़ी जोरदार है।

सम०—यहाँ 'क' की आवृत्ति है 'कोकिल' आदि का बड़ा समास है, इससे **परुषा** वृत्ति है।

घन बरसै दामिनि लसै, दस दिसि नीर-तरंग।
दंपति-हिये हुलास तें, अति सरसात अनंग ॥२०७॥

शब्दार्थ—तरंग = लहर। सरसात = फैलता है। अनंग = कामदेव।

भावार्थ—बादल बरसता है, बिजली चमकती है, दसो दिसाओं में जल लहरा रहा है। दंपति (नायक-नायिका) के हृदय में उल्लास के कारण अत्यंत काम बढ़ रहा है।

सम०—यहाँ 'बरसै लसै', 'दस दिसि', 'हिये हुलास', 'दंपति अति' आदि में अनुप्रास है। समास नहीं है। मधुर अक्षर भी नहीं हैं। इससे कोमला वृत्ति है।

इति शब्दालंकार नाम पंचमः प्रकाशः।
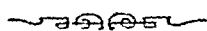
ग्रंथ-प्रयोजन

अलंकार सब्दार्थ[1][2] के, कहे एक सौ आठ।
किए प्रगट भाषा-विषै, देखि संस्कृत-पाठ ॥२०८॥

शब्दार्थ—पाठ = मूल ग्रंथ।

भावार्थ—(इस ग्रंथ में) शब्द और अर्थ के एक सौ आठ (१०८) अलंकार लिखे गए हैं। संस्कृत ग्रंथ देखकर हमने इन्हें भाषा (हिंदी—ब्रजभाषा) में लिखा है।

सब्दालंकृत बहुत है, अच्छर के संजोग।
अनुप्रास पटविध कहे, जे हैं भाषा-जोग ॥२०९॥

१—दोय। २—सब्द अर्थ।

शब्दार्थ—हे = थे। जोग = योग्य।

भावार्थ—अक्षरों के संयोग के बहुत से शब्दालंकार थे, पर हमने केवल हिंदी के योग्य छः प्रकार के अनुप्रास लिखे हैं (तीन वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास, छेकानुप्रास और यमक)।

ताही नर के हेतु यह, कीन्हों ग्रंथ नवीन।
जो पंडित भाषा-निपुन, कविता-विषै प्रवीन ॥२१०॥

भावार्थ—यह नवीन ग्रंथ उसी मनुष्य के लिए बनाया गया है, जो पंडित है, भाषा में निपुण है और कविता में प्रवीण है।

लच्छन तिय अरु पुरुष के, हाव-भाव-रस-धाम।
अलंकार-संजोग तें, 'भाषा-भूषन' नाम ॥२११॥ ❀

भावार्थ—इसमें स्त्री (नायिका) और पुरुष (नायक), हाव, भाव और इसके लक्षण हैं। अलंकार के संयोग से (अलंकारों का वर्णन होने से) इसका नाम भाषा-भूषण है।

भाषा-भूषन ग्रंथ कों, जो देखै चित लाय।
विविध अर्थ साहित्य-रस, ताहि सहल दरसाय ॥२१२॥

भावार्थ—जो भाषा-भूषण ग्रंथ को दिल लगाकर देखेगा उसे साहित्य के विविध अर्थ और रस सब कुछ प्रकट हो जायँगे।

इति श्रीमन्महाराज जसवंतसिंह कृत भाषाभूषणं संपूर्णम्।

❀ कुछ प्रतियों में यह दोहा नहीं है।

परिशिष्ट

['भाषा-भूषण' में नायकादि के लक्षण तो दिए गए हैं, पर उदाहरण नहीं हैं। यहाँ दोहों में ही प्रसिद्ध कवियों के ग्रंथों से उदाहरण भी दे दिए जाते हैं। जहाँ 'भाषा-भूषणकार' ने लक्षण नहीं दिए हैं वहाँ छोटे अक्षरों में लक्षण भी दे दिए गए हैं।]

नायक—

अनुकूल

सपनेहूँ मनभावतो[1], करत नहीं अपराध।
मेरे मन ही में रही, सखी! मान की सौध[2]॥ —मतिराम

दक्षिण

निज-निज मन के चुनि सबै, फूल लेहु इक बार।
यह कहि कान्ह कदंब की, हरखि हलाई डार॥ —पद्माकर

शठ

पियत रहे[3] अधरान को, रस अति अधिक अमोल[4]।
तातें मीठे कढ़त हैं, बाल[5]-बदन तें बोल॥ —मतिराम

धृष्ट

जदपि न बैन उचारियतु, गहि निबाहितु बाँह।
तदपि गरेई परत है, गजब गुनाही[6] नाह॥ —पद्माकर

पति

आई चालि सु ससिमुखी, नख-सिख रूप अपार।
दिन-दिन तिय-जोबन बढ़त, छिन-छिन तिय को प्यार॥ —पद्माकर

१—नायक। २—इच्छा। ३—पीता ही रहे। ४—अमूल्य, अद्वितीय।—
५—नायिका। ६—अपराधी।

उपपति

जाहिर[1] जाइ सकै न तहँ, घरहाइन[2] के त्रास।
परे रहत नित कान्ह के, प्रान परोसिनि-पास ॥ —पद्माकर

वैशिक

लोचन पानिप[3] पढ़ि सजो, लट-बंसी[4] परवीन।
मो मन बार-विलासिनी, फाँसि लियौ मनु मीन ॥ —मतिराम

नायिका—

पद्मिनी

कमल-गंध तनु सुभग कृस, दीरघ कच[5] सुकुमार।
'अली! बचाइ अलीन[6] सों, इतैं करत गुंजार' ॥ —श्रीकंठ

चित्रिणी

मुख मंजुल, सुखदायिनी, कला-प्रिया प्रिय-चित्र।
'पिय लौं करत चरित्र तौ, मिलत चित्र मैं मित्र' ॥ —श्रीकंठ

शंखिनी

दर[7] लौं कंठ त्रिरेख, दृग आयत[8] रति-प्रिय जान।
'चंपकली-ढिग जात नहिं, ऐसो मधुप अजान' ॥ —श्रीकंठ

हस्तिनी

कर नितंब मुख थूल कुच, गज-गति, रति, अति बोल।
'धिक मधुकर! तजि कमलिनी, सेवत करिनि-कपोल ॥⊛ —श्रीकंठ

१—प्रकट। २—बदनामी करनेवाली। ३—शोभा, जल। ४—वह कटिया जिसमें आटा लगाकर मछली फँसाते हैं। ५—केश। ६—भ्रमर। ७—शंख। ८—विशाल।

⊛ इसमें और इसके ऊपर के तीन दोहों में पहली पंक्ति लक्षण की है और दूसरी उदाहरण की।

स्वकीया

जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति ।
गुरुजन[1] जानत लाज है, प्रीतम जानत प्रीति ॥ —मतिराम

परकीया

सनि[2] कज्जल चख[3]-झख[4] लगन, उपज्यौ सुदिन सनेह ।
क्यौं न नृपति ह्वै भोगवै, लहि सुदेस[5] सब देह ॥ —विहारी

सामान्या

तन सुवरन[6] सुवरन[7] वसन, सुवरन[8] उकति उछाह ।
धनि सुवरन-मैं[9] ह्वै रही, सुवरन[10] ही की चाह ॥ —पद्माकर

मुग्धा

अभिनव[11] जोवन-जोति सौं, जगमग होत विलास ।
तिय के तन पानिप[12] वढ़ै, पिय के नयननि प्यास ॥ —मतिराम

अज्ञातयौवना

कहा कहौं दुख कौन सौं, मौन गहौं किहिं भाँति ।
घरी-घरी यह घाँघरी,[13] परत ढीलियै जाति ॥ —पद्माकर

ज्ञातयौवना

इतै उतै सचकित चितै, चलति डुलावति बाँह ।
दीठि बचाइ सखीन की, छनकु निहारति छाँह ॥ —मतिराम

१—बड़े-बूढ़े । २—शनैश्चर । ३—नेत्र । ४—मछली । ५—सुंदर, सुंदर देश । ६—सुंदर वर्ण (शरीर का रंग) । ७—सुंदर रंग (कपड़ों का) । ८—सुंदर अक्षर । ९—सुवर्ण से युक्त । १०—सोना । ११—नवीन । १२—शोभा, जल । १३—लँहगा ।

मध्या

मदन-लाज-बस तिय-नयन, देखत बनत इकंत।
इते खिंचे इत उत फिरत, ज्यौं दुनारि के कंत॥ —पद्माकर

प्रौढ़ा

तिय-तनु लाज मनोज की, यौं अब दसा दिखाति।
ज्यौं हिमंत-ऋतु मैं सदा, घटत-बढ़त दिन-राति॥ —पद्माकर

क्रियाविदग्धा

चढ़ी अटारी बाम वह, कियौ प्रनाम निखोट[१]।
तरनि-किरन[२] तें दृगन की, कर-सरोज करि ओट॥ —मतिराम

वचनविदग्धा

कनक-लता श्रीफल[३] फरी, रही बिजन बन फूलि।
ताहि तजत क्यौं बावरे, अरे मधुप! मति भूलि॥ —पद्माकर

लक्षिता

सतरौंहीं[४] भौंहनि नहीं, दुरै दुराएँ नेह।
होत नाम नँदलाल के, दीप-माल-सी देह॥ —मतिराम

गुप्ता

भलो नाहिं यह केवरो, सजनी गेह-अराम[५]।
बसन फटै कंटक लगै, निसि-दिन आठो जाम॥ —मतिराम

कुलटा

बिपिन बाग बीथी जहाँ, प्रबल पुरुषमय धाम।
कास-कलित[६] बलि बाम कों, तहाँ तनिक बिसराम॥ —पद्माकर

---

१ भली भाँति। २—सूर्य। ३—कुच। ४—रोषयुक्त। ५—वाटिका। ६—युक्त।

मुदिता

बिछुरत, रोवत दुहुँन के, सखि यह रूप लखै न ।
दुख-अँसुवा पिय-नैन हैं, सुख अँसुवा तिय-नैन ।। —मतिराम

अनुशयाना (प्रथम)

ग्रीषम-ऋतु मैं देखिकै, बन मैं लगी दवारि ।
एक अपरबलै बात यह, मन मैं जरति गवारि ।। —मतिराम

(द्वितीय)

निघटत फूल गुलाब के, धरत क्यों न धँन धीर ।
अमल कमल फूलन लगे, बिमल सरोवर-नीर ।। —पद्माकर

(तृतीय)

कल करील की कुंज सों, उठत अतर की बोय[३] ।
भयो तोहि भाभी कहा, उठी अचानक रोय ।। —पद्माकर

प्रोषितपतिका

सोवत जागत सपन-बस, रसैं[४] रिस चैन कुचैन ।
सुरति[५] स्याम-घन की सुरति[६], बिसरेहू बिसरै न ।। —बिहारी

कलहांतरिता

'ल्याओ पियहिं मनाइ' यह, कह्यो चहति रहि जाति ।
कलह-कहँर की लहर मैं, परी तिया पछिताति ।। —पद्माकर

खंडिता

बाल ! कहा लाली भई, लोयन-कोयन माँहि ।
लाल ! तिहारे दृगन की, परी दृगन मैं छाँहि ।। —बिहारी

१—आश्चर्यमय । २—कन्या (नायिका) । ३—सुगंध । ४—आनंद । ५—सूरत । ६—याद । ७—आलस ।

अभिसारिका

जुवति जोन्ह[1] मैं मिलि गई, नैंकु न परति लखाइ ।
सोंधे[2] के डोरन लगी, अली[3] चली सँग जाइ ॥ —विहारी

उत्कंठिता

कियौ न मैं कवहूँ कलह, गह्यौ न कवहूँ मौन ।
पिय अव लौं आए नहीं, भयौ सु कारन कौन ॥ —पद्माकर

विप्रलब्धा

सजॅन-विहीनी सेज पर, परे पेखि मुकतान ।
तवहिं तिया को तन भयौ, मनहुँ अधपक्यौ पान[5] ॥ —पद्माकर

वासकसज्जा

सुंदरि सेज सँवारिकै, साजे सवैं सिंगार ।
दृग-कमलन के द्वार मैं, बाँधे वंदनवार ॥ —मतिराम

स्वाधीनपतिका

तुव अयानपन लखि भटू !, लट्टू भए नँदलाल ।
जब सयानपन देखिहैं, तव धौं कहा हवाल ॥ —पद्माकर

प्रवत्स्यत्पतिका

क्यौं सहिए[6] सुकुमार यह, पहलो विरह गोपाल ।
जब वाके चित हित[7] भयौ, चलन लगे तव लाल ॥ —मतिराम

धीरा

करि आदर तिय पीय को, देखि दृगन अलसानि ।
सुमुख मोरि वरसन लगी, लै उसास अँसुवानि ॥ —पद्माकर

१—ज्योत्स्ना, चाँदनी । २—सुगंध । ३—सखी । ४—स्वजन (नायक) ।
५—अर्थात् पीला । ६—सहा जायगा । ७—प्रेम ।

अधीरा

दाहक नाहक[1] नाह ! मोहिं, करिहौ कहा मनाय ।
सुवस भए जा तीय के, ताके परसहु पाय ॥　—पद्माकर

धीराधीरा

आवत उठि आदर कियौ, बोले बोल रसाल[2] ।
बाँह गहत नँदलाल के, भए बाल-दृग लाल ॥　—मतिराम

लघु मान

मान जनावति सबन कों, मन न मान की ठाट[3] ।
बाल मनावन कों लखै, लाल ! तिहारी बाट[4] ॥　—मतिराम

मध्यम मान

भई देवता-भाव[5] सब, वह तुमकों बलि जाउँ ।
वाही को मन ध्यान है, वाही को मुख नाउँ ॥　—मतिराम

गुरु मान

बहु नायक सौं बात मैं, मान भलो न सयान ।
दुख-सागर में बूड़िहैं, बाँधि गरे गुरु मान ॥　—मतिराम

सात्विक भाव—

स्तंभ

'भीति, लाज, आनंद मैं, थकित अंग जब होत'

पियहि परखि तिय थकि[6] रही, बूझेउ सखिन निहार ।
चलति क्यौं न, क्यौं चलहुँ मग, परत न पग रँग-भार ॥　—पद्माकर

१—व्यर्थ । २—मीठे । ३—तैयारी । ४—रास्ता । ५—अर्थात् सीधी, शांत ।
६—थकित ।

कंप

'आनँद, भय के कोप तें, हालि उठै जब अंग'

लाल-बदन लखि बाल के, कुचन कंप-रुचि होति ।
चपल होत चकवा मनो, चोहि[1] चंद की जोति ॥ —मतिराम

स्वरभंग

'मद, भय, कोप, अनंद तें, वचन औरही रीति'

हौं जानत जौ नहिं तुम्हैं, बोलत अध-अखरान ।
संग लगे कहुँ और के, करि आए मद-पान ॥ —पद्माकर

वैवर्ण्य

'कोप, मोह, भय आदि तें, रंग औरही भाँति'

बाल रही इकटक निरखि, लाल-बदन-अरबिंद ।
सियराई नैननि परी, पियराई मुख-चंद ॥ —मतिराम

अश्रु

'हरष, रोष, भय, सोक तें, नैनन महँ जल छाय'

पलनि प्रगटि बरुनीनि बढ़ि, छन कपोल ठहरात ।
अँसुवा परि छतियाँ छनक, छनछनाइ छपि छात ॥ —बिहारी

स्वेद

'हरष, कोप, श्रम, लाज मैं, गात नीर के बिंदु'

यौं श्रम-सीकर सुमुख तें, परत कुचन पर बेस ।
उदित चंद मुकुता-छतँनि[2], पूजत मनहुँ महेस ॥ —पद्माकर

१—देखकर । २—अच्छत, चावल ।

रोमांच

'हरप, सीत, भीतादि तें, हरपत रोम-सरीर'

पुलकित गात अन्हात यौं, अरी ! खरी छवि देत ।
उठे अंकुरे प्रेम के, मनहुँ हेम[1] के खेत ॥ —पद्माकर

प्रलय

'देस, काल, तन, लाज को, रहै नहीं कछु ज्ञान'

दै चख-चोट अँगोट[2] मग, तजी जुवति वन माहिं ।
खरी विकल कब की परी, सुधि सरीर की नाहिं ॥ —पद्माकर

हाव—

लीला

तिय बैठी पिय को पहिरि, भूपन वसन विसाल ।
समुझि परत नहिं सखिन कों, को तिय को नँदलाल ॥ —पद्माकर

विहृत

यह न बात आछी कछू, लहि जोवन परकास ।
लाजहिं तें चुप ह्वै रहति, जो तू पिय के पास ॥ —पद्माकर

विच्छित्ति

जनु मलिंद[3] अरविंद-विच, वस्यौ चाहि[4] मकरंद ।
इमि इक मृगमद-विंदु सौं, किए सुवस[5] व्रजचंद ॥ —पद्माकर

विभ्रम

पहिरि कंठ-विच किंकिनी, कस्यौ कमर-विच हार ।
हरवराइ देखन लगी, कब तें नंदकुमार ॥ —पद्माकर

१—सोना । २—आड़ । ३—भ्रमर । ४—इच्छा करके । ५—अपने वश में ।

विलास

तेरी चलनि चितौनि मृदु, मधुर मंद मुसुकानि।
छाइ रही लखि लाल की, सखियन-मिस अँखियानि ॥ —मतिराम

ललित

बिरी अधर, अंजन नयन, मेंहदी पग अरु पानि[1]।
तन कंचन के आभरन, नीठि[2] परैं पहिचानि ॥ —मतिराम

किलकिंचित

सुनि पग-धुनि चितई इतै, न्हाति दिए ही पीठि[3]।
चकी झुकी सकुची डरी, हँसी लजीली दीठि ॥ —विहारी

कुट्टमित

प्रीतम को मनभावती, मिलति बाँह दै कंठ।
बाँही छुटै न कंठ तें, नाँही छुटै न कंठ ॥ —मतिराम

बिब्बोक

रहौ देखि दृग दै कहा, तुहि न लाज कछु छूत[4]।
मैं बेटी बृषभान की, तू अहीर को पूत ॥ —पद्माकर

मोट्टायित

सकुचि सरकि पिय-निकट तें, मुलकि[5] कछुक तन तोरि।
कर आँचर की ओट करि, जमुहानी मुख मोरि ॥ —विहारी

विरह की दस दशा—

अभिलाष

पिय-आगम तें अगमनहिं[6], करि बैठी तिय मान।
कब धौं आइ मनाइहै, यही रही धरि ध्यान ॥ —पद्माकर

१—हाथ। २—कठिनाई से। ३—मुख फेरे हुए। ४—तुझे लज्जा नहीं छूती (लगती)। ५—नेत्रों से मुसकुराकर। ६—पहले ही।

चिंता

काग कहा कुल-कानि सौं, लोक-लाज किन जाइ ।
कुंज-विहारी कुंज में, मिलैं मोहि मुसुकाइ ॥ —मतिराम

स्मरण

जब-जब वे सुधि कीजिए, तब-तब सब सुधि जाहिं ।
आँखिहिं आँख लगी रहैं, आँखैं लागति नाहिं ॥ —विहारी

गुणकथन

भृकुटी-मटकनि, पीतपट चटक[1], लटकती चाल ।
चल चख-चितवनि चोरि चित, लियौ बिहारीलाल ॥ —विहारी

उद्वेग

ह्वै उदास अति राधिका, ऊँचे लेति उसास ।
सुनि मन-मोहन कान्ह कों, कुटिल कूबरी-पास ॥ —पद्माकर

प्रलाप

फिरि-फिरि बूझति कहि, 'कहा कह्यौ साँवरे-गात ?
कहा करत ? देखे कहाँ ? अली चली क्यौं बात ?' —विहारो

व्याधि

कर के मीड़े कुसुम लौं, गई बिरह कुम्हिलाइ ।
सदा समीपिनि सखिनहू, नीठि[2] पिछानी जाइ[3] ॥ —विहारी

जड़ता

अनिमिष लोचन बाल के, यातें नंदकुमार !
सीचें गई जरि बीच ही, बिरहानल की झार ॥ —मतिराम

१—चमक । २—मुश्किल से । ३—पहचानी जाती है । ४—मृत्यु । ५—आँच ।

उन्माद

रोइ उठै, छन उठि हँसै, छन उठि चलै रिसाइ।
बौरी करी बनाइ तैं, रूप-ठगौरी लाइ ॥ —मतिराम

नवरस—

श्रृंगार

तिय पिय के पिय तीय के, नख-सिख साजि सिंगार।
करि बदलो तन मनहु को, दंपति करत बिहार ॥ —पद्माकर

हास्य

'रवि वंदौ कर जोरिकै', सुनत स्याम के बैन।
भए हँसौहैं सबनि के, अति अनखौहैं नैन ॥ —बिहारी

करुण

गोपिन के अँसुवनि-भरी, सदा असोस[1] अपार।
डगर-डगर[2] नै[3] ह्वै रही, बगर-बगर[4] के बार[5] ॥ —बिहारी

रौद्र

अधर चब्ब, गहि गर्ब्ब[6] अति, चहि रावन को काल।
दृग कराल मुख लाल करि, दौर्‍यौ दसरथ-लाल ॥ —पद्माकर

वीर

धनुष चढ़ावत भे तबहिं, लखि रिपु-कृत उतपात।
हुलसि गात रघुनाथ को, बखतँर[7] मैं न समात ॥ —पद्माकर

भय

एक ओर अजगरहि लखि, एक ओर मृगराई[8]।
बिकल बटोही बीच ही, पर्‍यौ मूरछा खाइ ॥ —पद्माकर

१—अशोष्य। २—गली। ३—नदी। ४—घर। ५—द्वार। ६—गर्व। ७—कवच। ८—सिंह।

वीभत्स

रिपु-अंत्रिन[1] की कुंडली, करि जुग्गिनि जु चबाति ।
पीबहि मैं पागी मनो, जुवति जलेबी खाति ॥ —पद्माकर

अद्भुत

मोहन मूरति स्याम की, अति अद्भुत गति जोइ ।
बसत सुचित-अंतर तऊ, प्रतिबिंबित जग होइ ॥ —बिहारी

शांत

बन बितान[2] रवि-ससि दिया, फल भो सलिल-प्रवाह ।
अवनि सेज पंखा पवन, अब न कछू परवाह ॥ —पद्माकर

स्थायीभाव—

रति

'जहाँ भिन्नता तें रहित, दंपति के चित चाह'

कान्ह बिहारे मान को, अति आतप[3] यह पाइ ।
तिय-उर अंकुर प्रेम को, जाइ न कहुँ कुम्हिलाइ ॥ —पद्माकर

हास्य

'हँसिबे जोग प्रसंग मैं, उर उपजत आनंद'

बिबस न ब्रज-बनितान के, सखि ! मोहन मृदु काय ।
चीर[4] चोरि सुकदेव पै, कछुक रहे मुसुकाय ॥ —पद्माकर

शोक

'अहित-लाभ हित-हानि तें, कछु जु हिये दुख होत'

बाम[5] काम की खसम[6] की, भसम लगावत अंग ।
त्रिनयन के नयननि जग्यौ, कछु करुना को रंग ॥ —पद्माकर

१—आँत । २—चँदोआ । ३—गर्मी । ४—वस्त्र । ५—(कामदेव की) स्त्री ।
६—रति ।

क्रोध

'अपमानादिक तें प्रगट, जो बिकार चित होत'।
फारौं वच्छ[1] न अच्छ[2] को, जौ लगि मैं हनुमान।
तौ लौं पलक न लाइहौं, कछुक अरुन अँखियान॥ —पद्माकर

उत्साह

'लखि उद्भट प्रतिभट जो कछु, जगजगात चित चाव'।
मेघनाद कौं लखि लखन, हरषे धनुष चढ़ाइ।
दुखित बिभीषन दवि रह्यौ, कछु फूले रघुराइ॥ —पद्माकर

भय

'विकृत भयंकर के डरन, जो चित कछु अकुलात'।
तीन पैग पुहुमी दई, प्रथमहिं परम पुनीत।
बहुरि बढ़त लखि बामनहिं, भे बलि कछुक सभीत॥ —पद्माकर

घृणा (निंदा)

'सुने लखे किहिं बस्तु के, घिन उपजत चित माँह'।
लखि बिरूप सूरपनखै, सरुधिर चर चुचुवात।
सिय-हिय मैं घिन की लता, भई सु द्वै-द्वै पात॥ —पद्माकर

विस्मय

'अघटित घटित प्रपंच लखि, जहँ चित बिस्मय होत'।
नल-कृत पुल लखि सिंधु मैं, भए चकित सुरराव[3]।
राम-पाद-नत भे सबहि, सुमिरि अगस्त्य-प्रभाव॥ —पद्माकर

१—वक्षस्थल। २—अक्षयकुमार। ३—इंद्र।

निर्वेद

'जहँ बिसेष ज्ञानादि तें, जग सों होत बिराग'।

पदमाकर कछु निज कथा, कासों कहौं बखानि।
जाहि लखौं ताहै परी, अपनी-अपनी आनि॥ —पद्माकर

उद्दीपन विभाव

उग्यौ सरद-राका-ससी, करति क्यौं न चित चेत।
मनो मदन-छितिपाल[1] को, छाँहगीर छवि देत॥ —विहारी

अनुभाव

मृदु मुसुकाय उठाय भुज, छन घूँघट उलटारि।
को धनि ऐसी जाहि तू, इकटक रही निहारि॥ —पद्माकर

आलंबन विभाव

दोऊ चाह भरे कछू, चाहत कह्यौ, कहैं न।
नहिं जाचक सुनि सूम लौं, बाहिर निकसत बैन॥ —विहारी

संचारी या व्यभिचारी भाव—

निर्वेद

'उर उपजै कछु खेद, लहि बिपति ईर्षा ज्ञान'

भयौ न कोऊ होइगो, मो समान मतिमंद।
तजे न अब लौं बिषय-बिष, भजे न दसरथनंद॥ —पद्माकर

ग्लानि

'आधि व्याधि तें अँग सिथिल, काज माहिं नहिं चाव'

मलिन बसन बिबरन बिकल, कृस सरीर दुख भारु।
कनक-कलप-बरबेलि-बन, मानहुँ हनी तुषारु[3]॥ —तुलसी

१—पूर्णिमा। २—राजा। ३—बर्फ।

शंका

'जहँ आपनी अबुद्धि सों, हिये सोच सरसाय'

लगै न कहुँ ब्रज-गलिन मैं, आवत जात कलंक।
निरखि चौथि को चाँद यह, सोचति सुमुखि ससंक ॥ —पद्माकर

गर्व

'जहाँ अधिक उपजै हिये, निज गुन-गन को गर्व'

सूर कवन रावन-सरिस, स्वकर काटि निज सीस।
हुने अनल[1] महँ बार बहु, हरषि साखि[2] गौरीस ॥ —तुलसी

चिंता

'जहाँ अहित के सोच तें, चित व्याकुलता होइ'

कोमल कंज मृनाल पै, कियौ कलानिधि वास।
कब को ध्यान रह्यौ जो धरि, मित्र-मिलन की आस ॥ —पद्माकर

मोह

'जहँ आपने सरीर को, नेकु न रहे सँभार'

सटपटाति[3] तसँबीह-सी, दीह दृगन मैं मेह[4]।
सु ब्रजबाल मोही परत, निर्मोही को नेह ॥ —पद्माकर

विषाद

'भासै कछु न उपाय जहँ, उपजै सोच अपार'

अब न धीर धारत बनत, सुरति बिसारि कंत।
पिक पापी पीकन लगे, बगर्‍यो बाग बसंत ॥ —पद्माकर

१—आग। २—साची। ३—छटपटाती है। ४—माला। ५—जल, आँसू।

दैन्य

'दुख दारिद विरहादि तें, चित्त नमित जहँ होत'

विरह-विपति दिन परत ही, तजे सुखनि सब अंग ।
रहि अबलौंऽब दुखौ भए, चलाचली जिय संग ॥ —बिहा

असूया

'पर-सुख को दुख मानिबो, यहै असूया भाव'

जैसे को तैसो मिलै, तबही जुरत सनेह ।
ज्यौं त्रिभंग[1] तन स्याम को, कुटिल कूबरी-देह ॥ —पद्माक

मृत्यु

'कछुक व्याधि वा घात तें, निकसि जात तन प्रान'

राम राम कहि राम कहि, राम राम कहि राम ।
तनु परिहरि रघुबर-बिरह, राउ गएउ सुरधाम ॥ —तुलर

मद

'धन यौवन सौंदर्य तें, हर्ष युक्त जो क्षोभ'

धन-मद जोबन-मद महा, प्रभुता को मद पाइ ।
ता पर मद को मद जिन्हैं, को तेहि सकै सिखाइ ॥ —पद्माक

आलस्य

'गर्भ जागरन व्याधि तें, चित में नहिं उतसाह'

दृग थिरकौंहैं अधखुले, देह थकौंहैं ढार ।
सुरत-सुखित सी देखियत, दुखित गरभ के भार ॥ —बिहा

१—तीन जगह से टेढ़े (गर्दन, कमर, पैर) ।

श्रम

'पथ तें व्यायामादि तें, जहँ थकावट होइ'

तीनि दिवस चलि विप्र के, दूखि उठे जव पाय।
एक ठौर सोए कहूँ, घास-पयार विछाय ॥ —नरोत्तमदास

उन्माद

'अतिसय अनमिल आचरन, व्यापै विषम विषाद'

छिन रोवति छिन हँसि उठति, छिन बोलति छिन मौन।
छिन-छिन पर छीनी परति, भई दसा धौं कौन ॥ —पद्माकर

आकृति-गोपन (अवहित्थ)

'जो जहँ करि कछु चातुरी, दसा दुरावै आप'

निरखत ही हरि हरषिकै, रहे सुआँसू छाइ।
बूझत अलि केवल कह्यौ, गयौ धूम ही धाइ ॥ —पद्माकर

चपलता

'राग-द्वेष तें रहै नहिं, थिरता हिरदै माहि'

चकरी लौं सँकरी गलिन, छिन आवति छिन जाति।
परी प्रेम के फंद मैं, वधू बितावति राति ॥ —पद्माकर

अपस्मार

'बाढ़ै स्वास-समीर जहँ, तन कंपै मुख फेन'

लखि बिहाल एकै कहत, भई कहूँ भय-भीति।
यकै कहत मिरगी लगी, लगी न जानत प्रीति ॥ —पद्माकर

भय (त्रास)

'सहसा अनहित होन सों, चित्त व्यग्र ह्वै जाय'

सिसिर-सीत भय-भीत कछु, सुपरि प्रीति कै पाइ ।
आपहि तें तजि मान तिय, मिली प्रीतमैं जाइ ॥ —पद्माकर

व्रीडा

'जहाँ पराभव आदि तें, मन मैं अति संकोच'

प्रथम समागम की कथा, बूझी सखिन जु आइ ।
मुख नवाइ सकुचाइ तिय, रही सुघूँघट नाइ ॥ —पद्माकर

जड़ता

'इष्ट अनिष्टहि देखि सुनि, क्रियाहीन ह्वै जाय'

हिलैं दुहूँ न चलैं दुहूँ, दुहुँन विसरिगे गेह ।
इकटक दुहुँनि दुहूँ लखैं, अटकि अटपटे नेह ॥ —पद्माकर

हर्ष

'इष्ट वस्तु देखत सुनत, मन प्रसन्न जो होइ'

तुमहिं विलोकि विलोकिए, हुलसि रह्यौ यौं गात ।
आँगी मैं न समात उर, उर मैं मुद न समात ॥ —पद्माकर

धृति

'विपति परेहू मति रहै अविचल, धृति है सोय'

वनचर वनचर[1] गगनचर, अजगर नगर-निकाय ।
'पद्माकर' तिन सबन की, खबर लेत रघुराय ॥ —पद्माकर

मति

'माया-भ्रम मैं सास्त्र को ज्ञान जथारथ होय'

पाछें पर न कुसंग के, 'पद्माकर' यहि डीठ ।
पर-धन खात कुपेट ज्यौं, पिटत बिचारी पीठ ॥ —पद्माकर

१—जलचर ।

आवेग

'अति डर तें अति नेह तें, उठि चलियतु जो वेग'

बाँधे वननिधि नीरनिधि, जलधि सिंधु बारीस।
सत्य तोयनिधि कंपती, उदधि पयोधि नदीस[1]॥ —तुलसी

उत्कंठा

'जहाँ हितू के मिलन हित, चाह रहति हिय माँहि'

सजे विभूषन बसन सब, सुपिय मिलन की हौस।
सह्यौ परत नहिं कैसहूँ, रह्यौ अधघरी द्यौस॥ —पद्माकर

निद्रा

'नींद निपट नैननि बसै, भूलि जाय तन-भान'

नँदनंदन नवनागरी, लखि सोवत निरमूल।
उर उघरे उरजन निरखि, रह्यौ सुआनन फूल॥ —पद्माकर

स्वप्न

'सोवत मैं मिथ्या चरित, परत साँच से जानि'

क्यौं करि झूँठी मानिए, सखि! सपने की बात।
जु हरि रह्यौ सोवत हिये, सो न पाइयत प्रात॥ —पद्माकर

व्याधि

'काय-कलेस भयादि तें, व्याधि जुरादिक होइ'

कब की अजब अजार[2] मैं, परी बाम तन-छाम[3]।
इत कोऊ मत लीजियौ, चंद्रोदय को नाम॥ —पद्माकर

१—रावण घबड़ाकर अपने दसों मुखों से समुद्र का नाम लेता है।
२—बीमारी। ३—चीण।

उग्रता

'दुर्जनादि अपराध लखि, निर्दयता उर आनि'

मातु-पितहिं जनि सोच-वस, करसि महीप-किसोर ।
गर्भन के अर्भक दलन, परसु मोर अति घोर ॥ —तुलसी

अमर्ष

'औरे को अभिमान लखि, उर उपजै अभिमान'

रे नृप-बालक काल-बस, बोलत तोहिं न सँभार ।
धनुही-सम त्रिपुरारि धनु, विदित सकल संसार ॥ —तुलसी

विमर्ष (विबोध)

'सोवत तें जहँ जागिवो, भाव मरम सुखदानि'

उठे लखन निसि बिगत सुनि, अरुनसिखा[1] धुनि कान ।
गुरु तें पहिले जगतपति, जागे राम सुजान ॥ —तुलसी

वितर्क

'लखि पदार्थ संसय बढ़े, तामैं करै विचार'

किधौं सु अधपक आम मैं, मानहुँ मिल्यौ मलिंद ।
किधौं तनक ह्वै नम रह्यौ, कै ठोड़ी को बिंद ॥ —पद्माकर

स्मृति

'सुमिरन बीती बात को, सुस्मृति भाव कहाय'

करी जु ही तुम वा दिना, वाके सँग बतरान ।
वहै सुमिरि फिरि-फिरि तिया, राखति अपने प्रान ॥ —पद्माकर

१—मुर्गा ।

अँगरेजी पर्याय

[अंक दोहों के हैं]